॥ श्री आदिनाथाय नमः ॥

करणानुयोग दीपक

तृतीय भाग

- लेखक -
पं. (डा.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल
अतिशय क्षेत्र, पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर (म. प्र.)

-सौजन्य से-
श्रीमती विमला जैन
धर्मपत्नी श्री पारसमल जी पाटनी
द्वारा मेसर्स राज इन्वेस्टमेंट्स
बी-6, द्वितीय तल, स्टैण्ड रोड, कलकत्ता
फोन: 2433893, 2432934, 2433995
निवास: 3377542, 2349032

- प्रकाशक -
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा
(प्रकाशन विभाग)
केन्द्रीय कार्यालय: श्री नन्दीश्वर फ्लोर मिल्स, मिल रोड, ऐशबाग
लखनऊ-226 004 (उ० प्र०) फोन/फैक्स: (0522) 267287, 654489
E mail: mahasabha@yahoo. com

भावना

अनादिकाल से संसार का प्रत्येक प्राणी अति दृढ़ कर्म शृंखलाओं के बन्धन से बद्ध है। चैतन्यमयी आत्मा के साथ कर्मों का यह सम्बन्ध क्यों, कैसे, किसके द्वारा, कितना और किस प्रकार का है ? यह सब जानने के तथा इनसे छूटने के उपायों का विवेचन एवं पुरुषार्थ जीव ने आज तक नहीं किया। करुणावन्त आचार्य नेमिचन्द्र ने इन सब प्रश्नों का सरलता से बोध कराने हेतु षट्खण्डागम से कर्मकाण्ड ग्रन्थ का अवतरण किया। प्राकृत एवं संस्कृत भाषा की जटिलता दूर करने हेतु महामना पं. टोडरमल जी ने इस ग्रन्थ की टीका आदि का ढूंढारी भाषा में रूपान्तर किया। विषय को और स्पष्ट करने हेतु विदुषी आर्यिका १०५ श्री आदिमती माताजी ने इस पर अपनी लेखनी उठाई, जिसका सम्पादन करणानुयोग के मर्मज्ञ विद्वान स्व. पं. रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुर वालों ने किया।

जैन जगत् के मनीषी विद्वान पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने उपर्युक्त प्रश्नों को सरलतापूर्वक समझने हेतु ३०० प्रश्नोत्तरों द्वारा ग्रन्थ के हार्द को समाज के समक्ष रखकर सराहनीय कार्य किया है। आशा है आत्म हितैषी भव्य जीव इस अनुपम कृति का सदुपयोग कर कर्मों से छूटने का सत् प्रयास करेंगे, यही मेरी मंगल भावना है।

– आर्यिका विशुद्धमती

आमुख

प्रश्नोत्तर शैली में 'करणानुयोग' के विषयों की संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक जानकारी देने वाली पुस्तिकाओं के क्रम में पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य रचित यह तीसरी पुस्तक है। प्रथम दो पुस्तकों की भाँति इसका भी प्रकाशन करणानुयोग दीपक–तृतीय भाग के रूप में श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा द्वारा किया गया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड का आधार लेकर करणानुयोग दीपक का प्रथम भाग लिखा गया था। दूसरा भाग गोम्मटसार कर्मकाण्ड पर आधारित था। दोनों में क्रमशः १६६ और ३०० प्रश्नोत्तर हैं। इस तीसरे भाग में लोक-रचना से सम्बन्धित २५८ प्रश्नोत्तर हैं, जो त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती राजवार्तिक और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा (लोकानुप्रेक्षा) के आधार पर लिखे गये हैं। इसमें कुल पाँच अधिकार हैं- प्रथम अधिकार में अधोलोक, द्वितीय अधिकार में भवनत्रिक, तृतीय अधिकार में वैमानिक देव, चतुर्थ अधिकार में तिर्यक्-लोक का वर्णन है और पाँचवें अधिकार में करण से सम्बन्धित विशिष्ट परिभाषाएँ दी गई हैं। सभी प्रश्नोत्तर सामान्य पाठक को सरल भाषा में विषय की पर्याप्त जानकारी कराने में पूर्णतया सक्षम है।

प्रश्नोत्तर शैली की इन पुस्तकों की उपयोगिता निर्विवाद है। शिक्षण-शिविरों में ये पुस्तकें पाठ्य-पुस्तकों का काम देती हैं जिनसे अध्यापक और अध्येता दोनों ही सीमित समय में बहुत लाभान्वित होते हैं। मैं आदरणीय पण्डितजी को इन उपयोगी प्रकाशनों के लिए हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य जैन जगत् के विश्रुत विद्वान् हैं। श्रुतसेवा में ही उनका जीवन समर्पित है। गत पाँच-छह दशकों से वे जैन वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन, अनुवाद और लेखन में संलग्न हैं। उनकी अनेकानेक अनूदित और मौलिक कृतियों से प्रत्येक स्वाध्यायी सुपरिचित है। ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध व्रती पण्डितजी आज भी अपने आपको अनवरत् अध्ययन-अध्यापन और लेखन-कार्य में व्यस्त रखते हैं। जरा सा भी समय व्यर्थ नहीं जाने देते। सम्माननीय पण्डितजी के प्रति अपने श्रद्धाभाव प्रकट करता हुआ मैं उनके स्वस्थ नीरोग दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

पूज्य आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी और पं० जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर ने पण्डितजी के लिखे प्रश्नोत्तरों का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया है और विषय को स्पष्ट करने के लिये इन्हें अपेक्षित जानकारी से समृद्ध किया है। पूज्य आर्यिका प्रशान्तमती माताजी ने गम्भीरतापूर्वक पूरी प्रेसकापी

फिर से लिखकर तैयार की है, जिससे मुद्रण में सुविधा रही है। इस प्रकार प्रकाशन में सहयोगी इन सभी का मैं हार्दिक आभारी हूँ। महासभा का प्रकाशन विभाग इस उपयोगी प्रकाशन के लिये हम सबके साधुवाद का अधिकारी है।

आशा है, आत्महितैषी पाठकगण इस पुस्तिका का पारायण कर अपने ज्ञान को निर्मल बनाने का सद् प्रयत्न करेंगे -इति शुभम्।

– डॉ० चेतन प्रकाश पाटनी, जोधपुर

आद्य वक्तव्य

करणानुयोग दीपक के प्रथम व द्वितीय भाग पाठकों के हाथों में पहुंच चुके हैं। यह उसका तृतीय भाग है। इसमें त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती, राजवार्तिक तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा के अन्तर्गत लोकानुप्रेक्षा के आधार पर कुछ उपयोगी विषयों का संकलन किया गया है। समन्तभद्र स्वामी ने करणानुयोग का लक्षण इस प्रकार लिखा है-

लोकालोक - विभक्ते - र्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनाञ्च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगञ्च॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव लोक, अलोक के विभाग, युगपरिवर्तन तथा चारों गतियों का दर्पण के समान स्पष्ट वर्णन करने वाले करणानुयोग को जानता है।

पहले त्रिलोकसार शास्त्री प्रथम खण्ड का पाठ्य ग्रन्थ था अतः उसके पठन-पाठन की व्यवस्था विद्यालयों में थी परन्तु विषय की दुरूहता के कारण अब वह पाठ्य ग्रन्थ नहीं है इसलिए लोकविषयक ज्ञान से छात्र वञ्चित रहने लगे हैं। राजवार्तिक का ३, ४ अध्याय भी पाठ्यक्रम में नहीं है। स्वाध्यायी मनुष्य तथा महिलाएँ ही इनका स्वाध्याय कर तद्विषयक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

श्री १०५ विशुद्धमती माताजी ने त्रिलोकसार, सिद्धान्तसार दीपक और तिलोयपण्णत्ती की विस्तृत हिन्दी टीका कर स्वाध्यायी

महानुभावों का बड़ा उपकार किया है। आज का छात्र वर्ग भी इस ओर अपनी अभिरुचि जागृत करे, इस उद्देश्य से इन ग्रन्थों में से कुछ आवश्यक प्रकरण प्रश्नोत्तर की शैली में मैंने संकलित किये थे। उनकी प्रेसकापी मैंने करणानुयोग के विशिष्ट ज्ञाता पं० जवाहरलालजी शास्त्री, भीण्डर और आर्यिका श्री १०५ विशुद्धमती माताजी के पास भेजी थी। माताजी ने संकलित प्रश्नोत्तरी को परिवर्द्धित और स्पष्ट करने का प्रशस्त कार्य किया है। पं० जवाहरलालजी ने कहीं टिप्पणियाँ देकर प्रश्नोत्तरों को स्पष्ट किया है। इस तरह करणानुयोग-दीपक का यह तृतीय भाग सुपरीक्षित होकर पाठकों के हाथों में जा रहा है।

हमारे स्नेही डॉ० श्री चेतनप्रकाशजी पाटनी, जोधपुर ने इसके निर्दोष एवं सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में बहुत श्रम किया है। प्रथम और द्वितीय भाग के समान इस भाग का भी प्रकाशन श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा के प्रकाशन विभाग की ओर से हो रहा है।

जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में सहयोग करने वाले उपर्युक्त सभी महानुभावों के प्रति मैं आभार और आदरभाव प्रकट करता हूँ।

श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल विनीत
पिसनहारी, जबलपुर पन्नालाल जैन (साहित्याचार्य)

प्रकाशकीय

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के प्रकाशन विभाग द्वारा धार्मिक सत्साहित्य प्रकाशन की अनवरत् परम्परा में प्रायः दुर्लभ साहित्य का पुनर्प्रकाशन अबाध रूप से जारी रखते हुए पं. (डा.) पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य जी ने करणानुयोग दीपक को जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड और त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती एवं राजवार्तिक के आधार से क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग के रूप में अपनी विद्वत्पूर्ण लेखनी से सहज भावों में उकेरा है। पं. (डा.) पन्नालाल जैन जी द्वारा गम्भीर चिंतन व मनन से परिपूर्ण आगमिक तथ्यों के साथ प्रस्तुत पुस्तक धर्मप्रिय बन्धुओं के लिए स्वाध्यात्मक है।

महासभा का प्रकाशन विभाग पं. (डा.) पन्नालाल जैन जी का सादर आभारी है, जिनकी कृतियाँ सफल और विद्वत्जनों द्वारा सदैव स्वागत योग्य व संग्रहणीय हैं।

हम महासभा की ओर से श्रीमती विमला देवी व श्री पारसमल जी, कलकत्ता के हार्दिक आभारी हैं जिनके आर्थिक सहयोग से इस प्रकार की कालजयी रचनाओं का पुनर्प्रकाशन सम्भव हो सका है।

आशा है विद्वानों की विद्वत्ता, श्रेष्ठिवर्ग की दानशीलता और कर्मठ कार्यकर्त्ताओं से महासभा व प्रकाशन विभाग सुदृढ़ होता रहेगा और प्रकाशन विभाग जिनवाणी की यथाशक्ति सेवा करता रहेगा।

— निर्मल कुमार सेठी

अध्यक्ष

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा

अनुक्रम

अधिकार	विषय	प्रश्न संख्या	पृष्ठ संख्या
१.	अधोलोक	१-४१	
२.	भवनत्रिक	४२-१०३	
३.	वैमानिकदेव	१०४-१३९	
४.	तिर्यग्लोक	१४०-२३०	
५.	करण सम्बन्धी विशिष्ट परिभाषाएँ	२३१-२५८	

करणानुयोग दीपक

तृतीय भाग

प्रथमाधिकार

मंगलाचरण

।। जिनवाणीं नमस्कृत्य मातृवद्धितकारिणीम् ।।
।। लोकस्य वर्णन किञ्चित् क्रियतेऽत्र यथागमम् ।।

१. प्रश्न : लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर: अनन्त आकाश के बीच जहाँ जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य एक क्षेत्रावगाह रूप स्थिति को प्राप्त हैं, उसे लोक कहते हैं।

२. प्रश्न : लोक का आकार कैसा है ?

उत्तर: दोनों पैर फैलाकर कमर पर दोनों हाथ दोनों ओर रख कर खड़े हुए पुरुष का जैसा आकार होता है वैसा ही लोक का

आकार होता है। अधोलोक वेत्रासन मध्यलोक झालर और ऊर्ध्वलोक मृद के आकार का है।[1]

३. प्रश्न : लोक का विस्तार, ऊँचाई और घनफल क्या है ?

उत्तर : लोक का विस्तार दक्षिणोत्तर दिशा में सर्वत्र सात राजू चौड़ा है। पूर्व-पश्चिम दिशाओं का विस्तार नीचे सात राजू, ऊपर क्रम से घटता हुआ मध्यलोक में एक राजू, फिर क्रम से बढ़ता हुआ ब्रह्मलोक के पास पाँच राजू, पश्चात् क्रम से घटता हुआ अन्त में एक राजू प्रमाण है। लोक की ऊँचाई अधोलोक से लेकर ऊपर तक चौदह राजू है। सम्पूर्ण लोक का घनफल सात राजू का घन अर्थात् ७ x ७ x ७ = ३४३ (तीन सौ तैंतालीस) घन राजू है।

४. प्रश्न : अधोलोक का क्षेत्रफल और घनफल क्या है ?

उत्तर : मुख और भूमि को जोड़कर आधा करना और उसमें पद योग अर्थात् ७ राजू ऊँचाई का गुणा करने से क्षेत्रफल प्राप्त होता है और क्षेत्रफल में मोटाई का गुणा करने से घनफल प्राप्त होता है।[2] अधोलोक का मुख १ राजू, भूमि ७ राजू, दोनों को जोड़कर

१. र. वा. भाग १, पृष्ठ २०६ नया संस्करण।

२. "जोगदले पदगुणिदे फलं घणो वेधगुणिदफलं" (त्रिलोकसार)

आधा करने से ४ राजू होते हैं। इस ४ राजू को पद अर्थात् ऊँचाई ७ राजू से गुणा करने पर ४ x ७ = २८ वर्ग राजू अधोलोक का क्षेत्रफल होता है। इस क्षेत्रफल का दक्षिणोत्तर विस्तार ७ राजू से गुणा करने पर २८ x ७ = १९६ घन राजू अधोलोक का घनफल होता है।

५. प्रश्न : ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल और घनफल क्या है ?

उत्तर : अर्ध ऊर्ध्वलोक का मुख १ राजू, भूमि ५ राजू दोनों को जोड़कर आधा करने से ३ राजू होते हैं। इस ३ राजू को पद अर्थात् ऊँचाई-३ $\frac{१}{२}$ राजू से गुणा करने पर ३x३$\frac{१}{२}$ = $\frac{२१}{२}$ वर्ग राजू अर्ध ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल होता है। इस क्षेत्रफल को दक्षिणोत्तर विस्तार ७ राजू से गुणा करने पर $\frac{२१}{२}$ x ७ = $\frac{१४७}{२}$ घन राजू अर्ध ऊर्ध्वलोक का घनफल होता है।

क्षेत्रफल और घनफल को दूना करने से २१ x २ = ४२ वर्ग राजू और $\frac{१४७}{२}$ x २ =१४७ घन राजू क्रमशः पूरे ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल और घनफल होता है।

६. प्रश्न : लोक की रचना किस प्रकार की है ?

उत्तर : अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक के तीन भेद हैं। मेरु पर्वत के नीचे ७ राजू प्रमाण अधोलोक है। मेरु

पर्वत के तल भाग से लेकर ६ राजू में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, प प्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा की सात पृथ्वियाँ हैं। इसके नीचे १ राजू प्रमाण स्थान भूमि रहित (पृथ्वी रहित) तथा निगोद आदि ५ स्थावरों से युक्त है।[1]

मेरु पर्वत की ऊँचाई प्रमाण मध्यलोक है। मेरु पर्वत एक हजार योजन पृथ्वी के अन्दर (जड़ की गहराई) है, निन्यानवे हजार योजन बाहर अर्थात् पृथ्वी पर है और चालीस योजन की चूलिका है।

ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई मध्यलोक की ऊँचाई से कम ७ राजू प्रमाण है। मेरु पर्वत की चूलिका से १ बाल का अन्तर देकर लोकान्त तक अर्थात् ७ राजू पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक में १६ स्वर्ग, ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर एवं सिद्धलोक की रचना है।

---

१. "सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजू में मात्र निगोद ही है।" पाठकों में ऐसी गलत धारणा पड़ चुकी है। वास्तव में बात यह है कि वहाँ भी पाँच स्थावर नियम से हैं। कहा भी है– तस्मादधोभागे रज्जूप्रमाणक्षेत्रं भूमिरहितं निगोदादिपंचस्थावरभूतं च तिष्ठति। (कार्ति. अनु./लोकानुप्रेक्षा गा. १२० की टीका) षट्खण्डागम में क्षेत्रानुगम में स्पष्ट लिखा है कि पाँच स्थावर लोक में सर्वत्र रहते हैं। (धवल ४/८, ७८८ आदि)

७ प्रश्न : लोक का आधार क्या है ?

उत्तर : घनोदधि वातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय, ये तीन वातवलय लोक का आधार हैं। जैसे छाल वृक्ष को चारों ओर से घेरे रहती है, वैसे ही ये तीनों वातवलय चारों ओर से लोक को घेरे हुए हैं।

तीन तहों के सदृश सर्वप्रथम गोमूत्र के वर्ण वाला घनोदधि वातवलय है। उसके पश्चात् मूंग के वर्ण वाला घन वातवलय है और उसके पश्चात् अनेक वर्ण वाला तनुवातवलय है।

लोकाकाश के अधोभाग में, दोनों पार्श्व भागों में नीचे से एक राजू ऊँचाई पर्यन्त अर्थात् पंच स्थावर पर्यन्त, सातों नरकभूमियों (पृथ्वी) के और ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी के नीचे तीनों वातवलय-प्रत्येक बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं।

दोनों पार्श्व भागों में एक राजू के ऊपर सप्तम पृथ्वी के निकट आठों दिशाओं में तीनों वातवलय यथाक्रम ७, ५, ४ योजन मोटे हैं, फिर क्रमशः घटते हुये मध्यलोक की आठों दिशाओं में ५, ४, ३ योजन मोटे रह जाते हैं, फिर क्रमशः बढ़ते हुये ब्रह्मलोक की आठों दिशाओं में ७, ५, ४ योजन मोटे हो जाते हैं, फिर ऊपर क्रमशः घटते हुये लोकाग्र के पार्श्व भाग में ५, ४, ३ योजन मोटे रह जाते हैं। ये तीनों वातवलय लोकशिखर पर

क्रम से २ कोस, १ कोस और १५७५ धनुष प्रमाण मोटे रह जाते हैं।

८. प्रश्न : लोक में स्थित स्वर्ग और नरक कहाँ और कितनी ऊँचाई पर हैं ?

उत्तर : मेरु पर्वत के नीचे वज्र व वैडूर्य पटलों के बीच में चौकोर संस्थान रूप से अवस्थित आकाश के आठ प्रदेश लोक का मध्य है।

लोकमध्य से ऊपर ऐशान स्वर्ग तक १$\frac{१}{२}$ राजू, माहेन्द्र स्वर्ग तक ३ राजू, ब्रह्मलोक तक ३$\frac{१}{२}$ राजू, कापिष्ठ स्वर्ग तक ४ राजू, महाशुक्र स्वर्ग तक ४$\frac{१}{२}$ राजू सहस्रार स्वर्ग तक ५ राजू, प्राणत स्वर्ग तक ५$\frac{१}{२}$ राजू, अच्युत स्वर्ग तक ६ राजू और लोकान्त तक ७ राजू ऊँचाई है।

लोकमध्य से नीचे शर्करा पृथ्वी तक १ राजू, उसके नीचे पुनः पाँचों पृथ्वियाँ क्रमशः एक-एक राजू हैं। इस तरह सप्तम पृथ्वी तक ६ राजू और लोकान्त तक ७ राजू होते हैं।[1]

९. प्रश्न : लोक की चौड़ाई कहाँ कितनी है ?

उत्तर : नीचे अधोलोक के मूल में चौड़ाई ७ राजू, मध्यलोक में

रा. वा. अ. पृष्ठ २०६–२०७ नया संस्करण।

१ राजू, ब्रह्मलोक में ५ राजू और लोक के अग्रभाग में १ राजू है।

लोकमध्य से १ राजू नीचे शर्करा पृथ्वी के अन्त में १$\frac{6}{7}$ राजू चौड़ाई है। उससे एक राजू नीचे बालुका प्रभा के अन्त में २$\frac{5}{7}$ राजू चौड़ाई है। उससे एक राजू नीचे पङ्कप्रभा के अन्त में ३$\frac{4}{7}$ राजू, फिर एक राजू नीचे धूमप्रभा के अन्त में ४$\frac{3}{7}$राजू, पुनः एक राजू नीचे तमःप्रभा के अन्त में ५$\frac{2}{7}$ राजू, पुनः एक राजू नीचे महातमःप्रभा के अन्त में ६$\frac{1}{7}$ राजू चौड़ाई है। फिर एक राजू नीचे कलकल पृथ्वी के अन्त में ७ राजू चौड़ाई है।

इसी प्रकार लोकमध्य से एक राजू ऊपर २$\frac{1}{7}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ३$\frac{3}{7}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ४$\frac{3}{7}$ राजू, फिर आधा राजू ऊपर जाने पर ५ राजू चौड़ाई है। पुनः आधा राजू ऊपर जाकर ४$\frac{3}{7}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ३$\frac{3}{7}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर जाने पर २$\frac{1}{7}$राजू, फिर एक राजू ऊपर जाकर लोकान्त में १ राजू चौड़ाई है।

१०. प्रश्न : लोक में किन-किन जीवों का कहाँ-कहाँ निवास है ?

उत्तर : पृथ्वीकायिक आदि पाँच प्रकार के स्थावर जीव सम्पूर्ण लोक में भरे हुए हैं, परन्तु त्रस जीव त्रस नाली में ही रहते हैं (समुद्घात आदि विशेष अवस्थाओं को छोड़कर)। लोक के मध्य

में एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और १४ राजू ऊँची त्रस नाली है। इस त्रस नाली के ३२१६२२४१-२/३ धनुषकम १३ राजू प्रमाण क्षेत्र में त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीव रहते हैं। सातवीं पृथ्वी के मध्य में ही नारकी रहते हैं, नीचे त्रस जीव नहीं रहते हैं।

सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र में स्थावर जीव ही रहते हैं। ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि विमान तक ही त्रस जीव रहते हैं। लोकान्त में १५७५ धनुष प्रमाण तनुवातवलय के उपरितन ५२५ धनुष क्षेत्र में सिद्ध परमेष्ठियों का निवास है।

११. प्रश्न : ३२१६२२४१$\frac{२}{३}$ धनुष कैसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर : त्रस नाली की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। इसमें सातवें नरक के नीचे एक राजू प्रमाण कलकल नामक स्थावर लोक है, यहाँ त्रस जीव नहीं रहते, अतः इसे तेरह राजू कहा गया है। इसमें भी सप्तम नरक के मध्य भाग में ही नारकी (त्रस) हैं, नीचे के ३९९९$\frac{१}{३}$ योजन यानी ३१९९४६६६$\frac{२}{३}$ धनुष में नहीं हैं। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि से ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी के मध्य १२ योजन यानी ९६,००० धनुष का अन्तराल है, आठवीं पृथ्वी की मोटाई ८ योजन यानी ६४,००० धनुष है और इसके ऊपर दो कोस (४,००० धनुष), एक कोस (२,००० धनुष)

एवं १५७५ धनुष मोटाई वाले तीन वातवलय हैं। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में त्रस जीव नहीं हैं। इसका कुल परिमाण (३१६६४६६६ $\frac{३}{३}$)- धनुष + ६६,००० धनुष + ६४,००० धनुष + ४,००० धनुष + २,००० धनुष +१५७५ धनुष) = ३२१६२२४१ $\frac{२}{३}$ धनुष) प्राप्त होता है।

१२. प्रश्न : त्रस नाली के बाहर त्रस जीव कौन सी अवस्था में किस तरह पाये जाते हैं ?

उत्तर : उपपाद, मारणान्तिक समुद्घात एवं लोकपूरण समुद्घात की अवस्था में त्रस जीव त्रस नाली के बाहर भी पाये जाते हैं।[1]

जैसे त्रस नाली के बाहर रहने वाला कोई स्थावर जीव मरण करके त्रस जीव में उत्पन्न होने के लिये त्रस नाली की ओर आ रहा है। उस समय उस जीव के विग्रहगति में ही त्रस नाम कर्म का उदय आ जाने से जितने समय तक वह त्रसनाली के बाहर विग्रहगति में रहता है, उतने समय तक उपपाद की अपेक्षा त्रस जीव का त्रसनाली के बाहर सद्भाव पाया जाता है।

त्रसनाली के भीतर रहने वाला कोई त्रस जीव, त्रसनाली के

उववाद- मारणंतिय–परिणद–तसमुज्झिऊण सेसतसा।
तसणालि बाहिरम्मि य णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।
(जीवकाण्ड गाथा १९८)

बाहर स्थावर जीव में उत्पन्न होने के लिए मरण से पूर्व मारणान्तिक समुद्घात करता है। मरण के पूर्व उस जीव के त्रस नाम कर्म का उदय होने से त्रस नाम कर्म सहित वह त्रस जीव त्रसनाली के बाहर पाया जाता है।

लोपूरण समुद्घात में जब केवली भगवान के आत्मप्रदेश समस्त लोक में फैलते हैं, उस समय भी त्रसनाली के बाहर त्रसजीव (केवल भगवान के त्रस नाम कर्म का उदय होने से) पाये जाते हैं।

१३. प्रश्न : अधोलोक में स्थित रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों के रूढ़ नाम क्या हैं ?

उत्तर : रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों के रूढ़ नाम क्रम से धर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्ठा, मघवा और माधवी हैं।

१४. प्रश्न : रत्नप्रभा पृथ्वी के कितने भाग हैं और उनका कितना बाहल्य (मोटाई) है एवं लम्बाई, चौड़ाई कितनी है ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं- खर भाग, पंक भाग और अप्बहुल भाग। इन तीनों का बाहल्य क्रमशः सोलह हजार, चौरासी हजार और अस्सी हजार योजन है। प्रथम पृथ्वी की मोटाई १,८०,००० योजन है।

खर भाग में एक–एक हजार योजन मोटी १. चित्रा, २. वज्रा, ३. वैडूर्या, ४. लोहिता, ५. मसार–कल्पा, ६. गोमेदा, ७. प्रबाला, ८. ज्योतिंरसा, ९. अंजना, १०. अंजनमूलिका, ११ अंका, १२. स्फटिका, १३. चन्दना, १४. सर्वार्थका, १५. बकुला, १६. शैला, ये सोलह पृथ्वियाँ हैं। इस सोलह पृथ्वियों के बीच में किसी प्रकार का अन्तराल नहीं है। इन १६ पृथ्वियों की लम्बाई एवं चौड़ाई लोक के अन्त तक फैली हुई होने से लोकप्रमाण है।

पंक भाग एवं अप्बहुल भाग की भी लम्बाई एवं चौड़ाई लोकप्रमाण है।

१५. प्रश्न : द्वितीयादि पृथ्वियों का बाहल्य (मोटाई) क्या है ?

उत्तर : द्वितीय शर्करा पृथ्वी की मोटाई ३२,००० योजन, बालुकाप्रभा की २८,००० योजन, पंकप्रभा की २४,००० योजन, धूमप्रभा की २०,००० योजन, तमःप्रभा की १६,००० योजन और महातमःप्रभा की ८,००० योजन मोटाई है।

१६. प्रश्न : सातों पृथ्वियों का आधार क्या है ?

उत्तर : रत्नप्रभा आदि सातों पृथ्वियों के नीचे बीस-बीस हजार योजन मोटे तीन बातवलय हैं और उनके नीचे आकाश है। एक पृथ्वी दूसरी पृथ्वी से संश्लिष्ट नहीं है। पृथ्वी की मोटाई से कम एक-एक राजू के अन्तराल से पृथ्वियाँ स्थित हैं।

१७. प्रश्न : रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में पटलों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथ्वी में १३ शर्कराप्रभा में ११, बालुकाप्रभा में ९, पंकप्रभा में ७, धूमप्रभा में ५, तमःप्रभा में ३ और महातमःप्रभा में १ पटल हैं। सातों पृथ्वियों के कुल पटलों की संख्या ४९ है। ये पटल एक दूसरे से संश्लिष्ट हैं।

१८. प्रश्न : रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में बिलों की संख्या कितनी है एवं बिलों की रचना कहाँ पर है ?

उत्तर : रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में क्रमशः तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख एवं मात्र पाँच बिल हैं।

प्रथम पृथ्वी का अप्बहुल भाग एवं अन्य पाँच पृथ्वियों में नीचे ऊपर की एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर बीच में जितने-जितने पटल बने हैं, उनमें अनुक्रम से बिलों की रचना है। सातवीं पृथ्वी आठ हजार योजन मोटी है। इसमें ऊपर और नीचे बहुत मोटाई छोड़कर मात्र मध्य में बिलों की रचना है। ये बिल ही नरक कहलाते हैं।

१९. प्रश्न : नरक-पटलों में बिलों का विन्यास किस प्रकार है ?

उत्तर : नरक-पटलों में बिलों का विन्यास इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक रूप में है।

जो अपने पटल के सर्व बिलों के ठीक मध्य में होता है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं। इस इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं एवं विदिशाओं में जो बिल पंक्ति रूप से स्थित हैं, उन्हें श्रेणिबद्ध बिल कहते हैं। जो श्रेणिबद्ध बिलों के बीच में बिखरे हुए पुष्पों के समान यत्र-तत्र स्थित हैं, उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं।

यह रचना प्रत्येक पटल में रहती है। प्रथम पृथ्वी के (नरक के) तेरह पटलों में १३ इन्द्रक बिल हैं। दूसरे आदि नरकों में पटलों की संख्यानुसार क्रमशः ११, ९, ७, ५, ३, १ इन्द्रक बिल हैं। कुल इन्द्रक बिल ४९ हैं।

प्रथम नरक के प्रथम पटल में स्थित इन्द्रक बिल की एक-एक दिशा में ४९-४९ और विदिशाओं में ४८-४८ श्रेणिबद्ध बिल हैं। द्वितीयादि इन्द्रक बिल से लेकर सप्तम नरक स्थित अन्तिम इन्द्रक बिल तक श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या एक-एक कम होते-होते अन्तिम इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं में तो एक-एक श्रेणिबद्ध बिल मिलता है परन्तु विदिशाओं में श्रेणिबद्ध बिल नहीं पाये जाते हैं।

२०. प्रश्न : बिलों का विस्तार और आकार क्या है ?

उत्तर : इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तार वाले ही होते हैं।

श्रेणिबद्ध बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले ही होते हैं। प्रकीर्णकों में कुछ प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन विस्तार वाले और कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले होते हैं। ये बिल गोल, चौकोर और त्रिकोन आकार वाले हैं।

२१. प्रश्न : नरक बिलों में शीत आदि की बाधा किस प्रकार है ?

उत्तर : प्रथम नरक पृथ्वी से लेकर पाँचवीं नरक पृथ्वी के तीन चौथाई भाग पर्यन्त अति उष्ण वेदना और पाँचवीं नरक पृथ्वी के शेष एक चौथाई भाग में तथा छठी और सातवीं नरक पृथ्वी में अतिशय शीत वेदना है। अर्थात् कुल (३०,००,००० + २५,००,००० रु १५,००,००० + १०,००,००० + २२,५०,०००) ८२,२५,००० बिलों पर्यन्त अत्यन्त उष्ण वेदना है (७५,००० + ९९९९५ + ५) १,७५,००० बिलों में अत्यन्त शीत वेदना है।

२२. प्रश्न : प्रत्येक पृथ्वी के नारकियों में लेश्या की व्यवस्था किस प्रकार है ?

उत्तर : प्रथम और द्वितीय पृथ्वी के नारकियों में कापोत लेश्या, तृतीय पृथ्वी के उपरितन बिलों के नारकियों में कापोत लेश्या और नीचे के बिलों के नारकियों में नील लेश्या, चतुर्थ पृथ्वी के नारकियों में नील लेश्या, पञ्चम पृथ्वी के उपरितन बिलों के

नारकियों में नील लेश्या और नीचे के बिलों के नारकियों में कृष्ण लेश्या, षष्ट पृथ्वी के नारकियों में कृष्ण और सप्तम पृथ्वी के नारकियों में परम कृष्ण लेश्या होती है। नारकियों में द्रव्य लेश्या तो आयु-प्रमाण एक सरीखी रहती है परन्तु भाव लेश्या एक रहते हुए भी उसमें अन्तमुर्हूत में परिवर्तन होता है अर्थात् कापोत आदि में मन्द-मन्दतर-मन्दतम आदि अनेक अवान्तर भेद होते हैं।'

२३. प्रश्न : नारकियों में विक्रिया की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर : नरकों का सम्पूर्ण वातावरण दुःखमय होता है। हजार बिच्छुओं के एक साथ काटने पर जो वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना वहाँ की भूमि के स्पर्श मात्र से होती है। भूख-प्यास का भयंकर दुःख होता है। नारकी जीव नरक बिल में उत्पन्न होते ही भय से काँपता हुआ छत्तीस आयुधों के मध्य में गिरकर वहाँ से उछलता है। पुराने नारकी नये नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी ओर दौड़ते हैं। परस्पर एक दूसरे को असह्य पीड़ा देते हैं। चिल्लाते हुए कितने ही नारकी जीव हजारों यंत्रों में तिलों की तरह पेल दिये जाते हैं। कितने ही नारकी जीवों को सांकल, आरी, करोत, भाला आदि से अन्य नारकी पीड़ा देते हैं। वे गरम तेल में फेंके जाते हैं, जलती हुई ज्वालाओं में पकाये जाते हैं। वृक्ष

रा. वा. अध्याय- ३, पृष्ठ ४४४, नया संस्करण।

के पत्ते, फल, गुच्छे आदि नारकियों के ऊपर वज्रदण्ड के समान गिरते हैं।

परस्त्री-रत नारिकियों के शरीर में अतिशय तपी हुई लोहमयी युवती की मूर्ति को दृढ़ता से लगाते हैं और उन्हें जलती हुई आग में फेंक देते हैं। पूर्व भव में मांस-भक्षण के प्रेमी नारकियों के शरीर के मांस को काटकर अन्य नारकी उन्हीं मांस खण्डों को उन्हीं के मुँह में डालते हैं।

मधु एवं मद्य का सेवन करने वाले नारकियों के मुखों में अन्य नारकी अत्यन्त तपे हुए द्रवित लोहे को डालते हैं, जिससे संतप्त हो समस्त अवयव समूह पिघल जाता है।

दुष्ट नारकी उनके शरीर के तिल-तिल बराबर टुकड़े कर डालते हैं फिर भी वे पारे की तरह मिल जाते हैं।

वहाँ का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सभी भयंकर होता है। अम्बावरीष जाति के असुरकुमारदेव नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं। उनके युद्ध को देखकर मन में संतुष्ट होते हैं।[1] वहाँ पर कोई किसी की सहायता नहीं करता है। नारकी जीवों को नेत्र की टिमकार मात्र भी सुख नहीं है। वे रात-दिन दुःख रूपी अग्नि में जलते रहते हैं।

---

[1] ति. प. भाग- एक, दूसरा अधिकार गा. ३ ७-३४३।

२६. **प्रश्न : नारकियों के उपपाद स्थान (उत्पत्ति स्थान) कहाँ पर होते हैं एवं उनकी चौड़ाई, ऊँचाई और आकार कैसा होता है ?**

उत्तर : नारकियों के उपपाद स्थान बिलों के उपरिम भाग में अनेक प्रकार की तलवारों से युक्त, भीतर गोल और अधोमुखकण्ठ वाले होते हैं।

पहली पृथ्वी से सातवीं पृथ्वी तक के उपपाद स्थानों की चौड़ाई क्रमशः एक कोस, दो कोस, तीन कोस, एक योजन, दो योजन, तीन योजन और सौ योजन प्रमाण है।

ऊँचाई अपनी-अपनी शरीर-अवगाहना से पाँच गुणा है।

उपपाद स्थान उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गर, नाली, गाय, हाथी, घोड़ा, नाव, झालर, मसूर, ध्वज, शृगाल, खर, करभ, झूला, रीछ आदि नाना प्रकार के आकार वाले होते हैं। उपपाद स्थान सात, तीन, दो, एक और पाँच कोने वाले होते हैं।

२७. **प्रश्न : उपपाद स्थानों में उत्पन्न होने वाले नारकी जीव क्या करते हैं ?**

उत्तर : नारकी जीव नरक बिलों के उपपाद- स्थानों में जन्म लेकर एक अन्तमुहूर्त में पर्याप्तियाँ पूर्ण कर उपपाद स्थान से च्युत

हो नरक भूमि के तीक्ष्ण शस्त्रों पर गिरते हैं। प्रथम पृथ्वी से सातों पृथ्वी तक के नारकी गिरते ही क्रमशः ७ योजन ३ १/४ कोस, १५ योजन २ १/२ कोस, ३१ योजन १ कोस, ६२ योजन २ कोस, १२५ योजन, २५० योजन एवं ५०० योजन ऊपर उछलते हैं। पुनः शस्त्रों पर आ पड़ते हैं।

पुराने नारकी नये नारकी को देखकर अति कठोर शब्द बोलते हुए मारते हैं, फिर परस्पर मारकाट शुरू हो जाती है।

२८. प्रश्न : नारकी जीव क्या खाते हैं ? उस आहार में कितना दुःख देने की क्षमता है ?

उत्तर : प्रथम पृथ्वीस्थ नारकी जीव श्वानादि निकृष्ट प्राणियों के सड़े हुये कलेवरों की दुर्गन्ध से भी अधिक दुर्गन्ध वाली मिट्टी खाते हैं। वंशादि पृथ्वियों के नारकी इससे असंख्यातगुणित अशुभ मिट्टी का भक्षण करते हैं जो उन्हें अल्प मात्रा में मिलती है।

प्रथम नरक के प्रथम सीमन्त नामक पटल के नारकी जिस मिट्टी का आहार करते हैं, वह मिट्टी यदि मनुष्य-क्षेत्र में डाल दी जाय तो वह अपनी दुर्गन्ध से आधे कोस के जीवों को मार डालेगी। इसी प्रकार प्रत्येक पटल के आहार की मिट्टी क्रम से आधा-आधा कोस अधिक पृथ्वी स्थित जीवों को मारने की क्षमता वाली है। प्रति पटल आधा-आधा कोस वृद्धिंगत होते हुए सप्तम

पृथ्वी के अवधि स्थान नामक ४९वें पटल के नारकी जिस मिट्टी का आहार करते हैं, वह मिट्टी अपनी दुर्गन्ध से मध्यलोक में स्थित २४ १/२ कोस के जीवों को मारने की सामर्थ्य वाली है।

२९. प्रश्न : नारकियों के अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना होता है ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकी जीव अपने अवधिज्ञान से ४ कोस तक जानते हैं। शर्कराप्रभा के ३ १/२ कोस, बालुकाप्रभा के ३ कोस, पंकप्रभा के २ १/२ कोस, धूमप्रभा के २ कोस, तमःप्रभा के १ १/२ कोस और महातमःप्रभा के नारकी जीव मात्र १ कोस तक ही अपने अवधिज्ञान से जान सकते हैं, इसके आगे नहीं।

३०. प्रश्न : नारकी अपने अवधिज्ञान द्वारा क्या यह जान सकता है कि वह अगले भव में कहाँ पर उत्पन्न होगा और पूर्व पर्याय में कहाँ था ?

उत्तर : नारकियों में अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र योजन प्रमाण है और काल एक समय कम मुहूर्त प्रमाण है। नरक से मरण कर जीव मध्यलोक में उत्पन्न होता है तथा मध्यलोक से ही जीव नरक में उत्पन्न होता है और यह क्षेत्र एक योजन से बहुत अधिक है अर्थात् अवधिज्ञान के क्षेत्र से बाहर है अतः नारकी यह नहीं जान सकता कि वह मरकर कहाँ पर उत्पन्न होगा और पूर्व में कौन-सी पर्याय में कहाँ था।

३१. प्रश्न : प्रथमादि पृथ्वियों में जन्म-मरण का अन्तर कितना होता है ?

उत्तर : प्रथमादि पृथ्वियों में जन्म-मरण के अन्तर का प्रमाण क्रमशः चौबीस मुहूर्त, सात दिन, एक पक्ष, एक माह, दो माह, चार माह और छह माह है अर्थात् प्रथमादि पृथ्वियों में कोई नारकी जन्म-मरण न करे तो अधिक से अधिक इतने समय तक न करे, इसके बाद तो नियम से किसी का जन्म-मरण होता ही है।

३२. प्रश्न : नरक से निकलने वाले नारकी जीवों की उत्पत्ति कहाँ-कहाँ पर होती है और वे कहाँ-कहाँ पर उत्पन्न नहीं होते हैं ? नरक से निकल कर वे क्या-क्या नहीं बन सकते हैं ?

उत्तर : नरक से निकला हुआ जीव मनुष्यगति और तिर्यञ्चगति में कर्मभूमिज, संज्ञी, पर्याप्तक और गर्भज ही होता है तथा सातवीं पृथ्वी से निकला हुआ जीव कर्मभूमिज, संज्ञी, पर्याप्तक और गर्भज तिर्यञ्च ही होता है।

नरकों से निकले हुए जीव नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती नहीं होते। चतुर्थादि पृथ्वियों से निकले हुए जीव यथाक्रम तीर्थंकर, चरमशरीरी, सकलसंयमी और मिश्रत्रय

(सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयमी) नहीं होते। सातवीं पृथ्वी से निकला हुआ जीव सासादन सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकता, मात्र मिथ्यादृष्टि ही होता है। नरक से निकला हुआ नारकी जीव एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, भोगभूमि, लब्ध्यपर्याप्तक और सम्मूर्च्छन जीवों में उत्पन्न नहीं होता है।

३३. प्रश्न : तीर्थंकर प्रकृति वाला जीव नरक में कहाँ तक किस अवस्था में जा सकता है ? नरकों में उनकी विशेष व्यवस्था क्या होती है ?

उत्तर : जिस मनुष्य ने पहले नरकायु का बंध कर लिया है, पीछे सम्यग्दर्शन प्राप्त कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है ऐसा जीव तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला हुआ। वह जीव तीसरे नरक तक जा सकता है। प्रथम नरक में जाने वाला तीर्थंकरसत्वी सम्यक्त्व सहित नरक में जाता है। दूसरे एवं तीसरे नरक में जाने वाला तीर्थंकरसत्वी जीव मरण समय से पूर्व मिथ्यादृष्टि होकर ही जा सकता है। नरक में जाकर अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दृष्टि बनकर पुनः तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने लगता है।

तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले नारकियों की आयु छह माह शेष रहने पर देव उनके उपसर्ग दूर कर देते हैं अर्थात् छह माह पूर्व उसके ऊपर कोट का आवरण हो जाता है, जिससे अन्य नारकी उसे दुःख नहीं दे सकते हैं।

३४. **प्रश्न : नरकों में कौन-कौन जीव उत्पन्न नहीं होते ? कौन-कौन जीव कौन से नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं**

उत्तर : एकेन्द्रिय और विकलत्रय नरकों में उत्पन्न नहीं होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव प्रथम पृथ्वी, पर्यन्त, सरीसृप द्वितीय पृथ्वी, पक्षी तथा मत्स्य तृतीय पृथ्वी, सर्प चतुर्थ पृथ्वी, सिंह पञ्चम पृथ्वी, स्त्री षष्ट पृथ्वी एवं मनुष्य सप्तम पृथ्वी पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

संहनन की अपेक्षा उत्पत्ति- छह संहनन वाले संज्ञी जीव यदि नरक में उत्पन्न होवें तो मेघा नामक तीसरी पृथ्वी पर्यन्त, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन रहित पाँच संहनन वाले अरिष्टा नामक पाँचवीं पृथ्वी पर्यप्त, चार सहनन वाले अर्थात् अर्धनाराच संहनन पर्यन्त वाले मघवी नामक छटी पृथ्वी पर्यन्त और वज्रवृषभ नाराच संहनन वाले सातवीं पृथ्वी तक नरकों में जन्म लेते हैं।

३५. **प्रश्न : प्रथमादि पृथ्वियों में जीव अधिक से अधिक कितनी बार उत्पन्न हो सकते हैं ?**

उत्तर : प्रथमादि पृथ्वियों में ऊपर कथित असंज्ञी आदि जीव उत्कृष्ट रूप से यदि निरन्तर उत्पन्न हों तो आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन और दो बार ही क्रमशः उत्पन्न हो सकते हैं। नरक से निकल कर सीधे नरक में जा सकते हैं, अतः बीच में अन्य पर्याय का अन्तर अपेक्षित रहता है। जैसे- कोई असंज्ञी जीव मरकर

प्रथम नरक गया। वहाँ से निकलकर उसने संज्ञी पर्याय प्राप्त की। पुनः मरकर असंज्ञी हुआ तथा मरकर पुनः प्रथम नरक गया। यह एक बार हुआ। पुनः वहाँ से निकल, संज्ञी होकर मरा और असंज्ञी पर्याय प्राप्त कर मरण किया तथा पुनः नरक चला गया, यह दूसरी बार हुआ। इस प्रकार अधिक से अधिक आठ बार उत्पन्न हो सकता है। नरक से निकला हुआ जीव असंज्ञी नहीं होता इसलिये उसे बीच में संज्ञी पर्याय प्राप्त करनी पड़ी। इसी कारण यहाँ बीच में एक पर्याय का अन्तर होते हुए भी निरन्तर कहा है। सरीसृप, पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री के लिए ऐसा नियम नहीं है, वे बीच में अन्य किसी पर्याय का अन्तर डाले बिना ही उत्पन्न हो सकते हैं। मत्स्य सप्तम नरक से जाकर वहाँ निकल कर पहले गर्भज होगा, फिर मत्स्य हो मरण कर सप्तम नरक जायेगा, क्योंकि नरक से निकला जीव सम्मूर्छन नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य मरकर सप्तम नरक गया, मरकर गर्भज तिर्यञ्च हुआ, फिर मनुष्य हो मरकर गर्भज तिर्यञ्च हुआ, पुनः मनुष्य मरकर फिर सप्तम नरक जायेगा, क्योंकि सप्तम नरक का जीव मनुष्य नहीं होता, इसी कारण इन दोनों जीवों के बीच में एक पर्याय का अन्तर होते हुये भी निरन्तर कहा है।

३६. प्रश्न : प्रथमादि पृथ्वियों में सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के क्या साधन हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का अन्तरंग साधन अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यगमिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है। नरक गति में उपर्युक्त सात प्रकृतियों का क्षय करने की योग्यता नहीं है।

बहिरंग साधन की अपेक्षा तृतीय पृथ्वी तक किन्हीं नारकियों को जाति स्मरण, किन्हीं को धर्म-श्रवण और किन्हीं को तीव्र वेदना के अनुभव से, चतुर्थ पृथ्वी से सप्तम पृथ्वी तक किन्हीं को जाति-स्मरण एवं किन्हीं को तीव्र वेदना के अनुभव से सम्यग्दर्शन होता है।

पूर्वभव के परिचित देव तृतीय पृथ्वी तक जाकर नारकियों को धर्मोपदेश देते हैं, अतः वहाँ तक धर्म-श्रवण सम्भव है। उसके आगे देवों का गमन नहीं है एवं क्षेत्र का वातावरण अनुकूल न होने से तथा परोपकार की भावना नहीं होने से वहाँ के सम्यग्दृष्टि नारकी अन्य नारकियों को संबोधित नहीं करते हैं, इसलिए वहाँ पर धर्म-श्रवण संभव नहीं है।

३७. प्रश्न : प्रथमादि पृथ्वियों में कहाँ कौनसा सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर : प्रथम पृथ्वी में नारकियों की पर्याप्त अवस्था में तीनों सम्यग्दर्शन (उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम) पाये जाते हैं एवं अपर्याप्त

अवस्था में क्षायिक तथा कृतकृत्य वेदक की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पाया जाता है। द्वितीयादि पृथ्वियों के नारकियों की अपर्याप्त अवस्था में कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथ्वी के आगे उत्पन्न नहीं होता है। पर्याप्त अवस्था में उपशम और क्षायोपशमिक दोनों सम्यग्दर्शन पाये जाते हैं।

३८. प्रश्न : प्रथमादि पृथ्वियों के नारकियों की जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : प्रथमादि पृथ्वियों के नारकियों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्तरह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर है। पूर्व नरक की जो उत्कृष्ट स्थिति होती है, वह एक समय अधिक होकर आगामी नरक की जघन्य आयु होती है। प्रथम पृथ्वी की जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। मध्यम आयु के अनेक विकल्प हैं।

३९. प्रश्न : प्रथमादि पृथ्वियों के पटलों में नारकियों की आयु-वृद्धि का क्या क्रम है ?

उत्तर : प्रथम पृथ्वी में तेरह पटल हैं। उनमें जघन्य आयु एवं उत्कृष्ट आयु इस प्रकार है-

पटल का नाम	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१. सीमन्तक	१०,००० वर्ष	९०,००० वर्ष

२. निरय	९०,००० वर्ष	९० लाख वर्ष
३. रौरव	९० लाख वर्ष	असंख्यात पूर्वकोटी
४. भ्रान्त	असंख्यात पूर्वकोटी	१/१० सागर
५. उद्भ्रान्त	१/१० सागर	२/१० सागर
६. संभ्रान्त	२/१० सागर	३/१० सागर
७. असंभ्रान्त	३/१० सागर	४/१० सागर
८. विभ्रान्त	४/१० सागर	५/१० सागर
९. त्रस्त	५/१० सागर	६/१० सागर
१०. त्रसित	६/१० सागर	७/१० सागर
११. वक्रांत	७/१० सागर	८/१० सागर
१२. अवक्रांत	८/१० सागर	९/१० सागर
१३. विक्रांत	९/१० सागर	१ सागर

इसी प्रकार शर्कराप्रभा आदि पृथ्वियों में भी प्रत्येक पटल में स्थित नारकियों की आयु जान लेनी चाहिए। विधि इस प्रकार है-

उत्कृष्ट स्थिति में से जघन्य स्थिति को घटाने पर जो शेष रहे उसे प्रतरों-पटलों की संख्या से भाजित करें। जो लब्ध आवे उसे पूर्व पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति में जोड़ दें। ऐसा करने से दूसरी पृथ्वी के प्रथम पटल की उत्कृष्ट स्थिति निकलती है। आगे यही इष्ट जोड़ते जाना चाहिए।

जैसे शर्कराप्रभा की उत्कृष्ट स्थिति ३ सागर और जघन्य स्थिति १ सागर है। उत्कृष्ट स्थिति में से जघन्य स्थिति को घटाने से २ सागर शेष रहे। इसमें प्रतर संख्या ११ का भाग देने से २/११ इष्ट हुआ। इसे प्रत्येक पटल की आयु में मिलाने पर अवान्तर पटलों में स्थित नारकियों की उत्कृष्ट आयु निकल आती है।[1]

४०. प्रश्न : नरकों में नारकियों के गुणस्थानों की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर : बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह में आसक्ति, मिथ्यात्व की प्रबलता, रौद्रध्यान, मद्य-मांस-मधु का सेवन, देव-शास्त्र-गुरु का अवर्णवाद, मुनिहत्या, पर-धन का हरण, परस्त्री में आसक्ति आदि।

मद्य पीते हुए, मांस की अभिलाषा करते हुए, जीवों का घात करते हुए और मृगया में अनुरक्त होते हुए जो मनुष्य क्षणमात्र के सुख के लिए पाप उत्पन्न करने वाले, महान् कष्टकारक और अत्यन्त भयानक नरक में पड़ते हैं।

---

[1] उपरिस्थितो विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्टसंगुणितः।
उपरि पृथिवी स्थितियुतः स्वेष्टप्रतरस्थितिर्महती॥
(राजवार्तिक ३-६-७)

भीत को छेद कर अर्थात् सेंध लगाकर, प्रियजन को मारकर और पट्टादिक को ग्रहण करके, धन का हरण करने वाले तथा अन्य भी ऐसे ही सैकड़ों अन्यायों से मूर्ख लोग भयानक नरक में दुःख भोगते हैं।

लज्जा से रहित, काम से उन्मत्त, जवानी में मस्त, पर-स्त्री में आसक्त और रात-दिन मैथुन का सेवन करने वाले प्राणी नरकों में जाकर घोर दुःख प्राप्त करते हैं।

पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्र के जीवनार्थ जो लोग दूसरों को ठगते हुये अपनी तृष्णा बढ़ाते हैं तथा पर के धन का हरण करते हैं, वे तीव्र दुःख को उत्पन्न करने वाले नरक में जाते हैं।

❑❑❑

द्वितीयाधिकार

४२. प्रश्न : "देव" किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभ्यन्तर कारण देवगति नाम कर्म का उदय होने पर जो नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीपसमुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं ?

४३. प्रश्न : देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर : भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक-कल्पवासी- इस प्रकार देवों के चार प्रकार हैं।

४४. प्रश्न : भवनत्रिक देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर : भवनवासी देवों के दस भेद हैं -

१. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. विद्युत्कुमार, ४. सुपर्णकुमार, ५. अग्निकुमार, ६. वातकुमार, ७. स्तनितकुमार, ८. उदधिकुमार, ९. द्वीपकुमार और १०. दिक्कुमार। व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं - १. किन्नर, २. किम्पुरुष, ३. महोरग, ४. गन्धर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. भूत और ८. पिशाच। ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद हैं - १. सूर्य, २. चन्द्र, ३. ग्रह, ४. नक्षत्र और ५. तारा।

४५. प्रश्न : भवनत्रिक देवों के अवान्तर भेद कितने हैं ?

उत्तर : भवनवासी देवों के उक्त दस प्रकार के भेदों में प्रत्येक के १. इन्द्र, २. सामानिक, ३. त्रायस्त्रिंश, ४. पारिषद्, ५ आत्मरक्ष, ६. लोकपाल, ७. अनीक, ८. प्रकीर्णक, ९. आभियोग्य और १०. किल्विषिक के भेद से दस-दस भेद हैं।

व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों के क्रमशः आठ प्रकार के और पाँच प्रकार के भेदों में प्रत्येक के त्रायस्त्रिंश एवं लोकपाल को छोड़कर शेष आठ प्रकार के भेद हैं।

४६. प्रश्न : देवों के अपाय का अभाव है, अतः उनमें आत्मरक्ष आदि की कल्पना क्यों है ?

उत्तर : यद्यपि इन्द्र आदि देवों को किसी प्रकार का भय नहीं है, फिर भी उनकी विभूति का द्योतन करने के लिए तथा प्रीति की प्रकर्षता का कारण होने से दूसरों पर प्रभाव डालने के लिए आत्मरक्ष होते हैं अर्थात् इस सब परिकर को देखकर इन्द्र आदि को परम् प्रीति होती है।

४७. प्रश्न : भवनवासियों के कितने और कौन-कौन इन्द्र हैं ?

उत्तर : भवनवासियों के दस प्रकार के भेदों में से प्रत्येक में दो-दो

इन्द्र एवं दो-दो प्रतीन्द्र होते हैं, अतः भवनवासियों में कुल बीस इन्द्र और प्रतीन्द्र होते हैं। इन्द्रों के नाम इस प्रकार हैं -

असुरकुमार नामक भवनवासी देवों में चमर और वैरोचन, नागकुमार देवों में भूतानन्द और धरणानन्द, विद्युत्कुमारों के घोष और महाघोष, सुपर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुधारी, अग्निकुमारों के अग्निशिखी और अग्निवाहन, वातकुमारों के वेलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारों के हरिषेण और हरिकान्त, उदधिकुमारों के जलप्रभ और जलकान्त, द्वीपकुमारों के पूर्ण और वशिष्ठ तथा दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन, इस प्रकार कुल २० इन्द्र होते हैं।

४८. प्रश्न : असुरकुमार आदि देवों के मुकुटों में क्या चिह्न होते हैं ?

उत्तर : असुरकुमार आदि भवनवासी देवों के मुकुटों में क्रम से चूड़ामणि, सर्प, गरुड़, हाथी, मगर, वर्द्धमान (स्वस्तिक), वज्र, सिंह, कलश और अश्व के चिह्न होते हैं।

४९. प्रश्न : असुरकुमार आदि देवों के चैत्यवृक्षों के क्या नाम हैं ?

उत्तर : असुरकुमार आदि देवों के चैत्यवृक्षों के नाम क्रमशः पीपल, सप्तपर्ण, शाल्मली, जामुन, वेतस, कदम्ब, प्रियंगु, शिरीष,

पलाश और राजद्रुम (धारोली का वृक्ष) हैं।

५०. **प्रश्न : ये चैत्यवृक्ष क्यों कहलाते हैं ?**

उत्तर : चैत्यवृक्षों के मूल भाग की चारों दिशाओं में पद्मासन से स्थित पाँच-पाँच जिनप्रतिमाएँ हैं, अतः इन्हें चैत्यवृक्ष कहते हैं। प्रतिमाओं के आगे प्रत्येक दिशा में रत्नमय, उत्तुंग पाँच-पाँच मानस्तम्भ हैं। इन मानस्तम्भों के ऊपर चारों दिशाओं में सात-सात प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

५१. **प्रश्न : भवनवासी देवों के निवास-स्थानों के कितने भेद हैं एवं उनका क्या स्वरूप है ?**

उत्तर : भवनवासी देवों के निवास-स्थान भवन, भवनपुर और आवास के भेद से ती प्रकार के होते हैं। इनमें से रत्नप्रभा पृथ्वी में भवन, मध्यलोक में द्वीप-समुद्रों के ऊपर भवनपुर एवं रमणीय तालाब, पर्वत तथा वृक्षादिक के ऊपर आवास हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकबहुल भाग में इस जम्बूद्वीप से तिरछे दक्षिण एवं उत्तर दिशा में असंख्यात् द्वीप समुद्रों के बाद क्रमशः दक्षिणेन्द्र, उत्तरेन्द्र एवं उनके परिवार वाले असुरकुमारों के भवन हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर इस जम्बूद्वीप से तिरछे दक्षिण एवं उत्तर दिशा में असंख्यात् द्वीप-समुद्रों के बाद क्रमशः दक्षिणेन्द्र,

उत्तरेन्द्र एवं उनके परिवार वाले शेष नौ कुमारों के भवन हैं।

इनमें किन्हीं-किन्हीं के भवनपुर एवं आवास भी होते हैं, परन्तु असुरकुमार देवों के केवल भवन रूप ही निवासस्थान होते हैं, भवनपुर और आवास नहीं होते हैं।

५२. **प्रश्न : भवनवासी इन्द्रों के भवनों की संख्या कितनी-कितनी है ?**

उत्तर : भवनवासी के दक्षिणेन्द्रों में चमरेन्द्र के ३४ लाख, भूतानन्द के ४४ लाख, वेणु के ३८ लाख, पूर्ण के ४० लाख,जलप्रभ के ४० लाख, घोष के ४० लाख,हरिषेण के ४० लाख अमितगति के ४० लाख, अग्निशिखी के ४० लाख और वेलम्ब के ५० लाख भवन हैं। इसी प्रकार उत्तरेन्द्रों में वैरोचन के ३० लाख, धरणानन्द के ४० लाख, वेणुधारी के ३४ लाख, वशिष्ठ के ३६ लाख, जलकान्त के ३६ लाख, महाघोष के ३६ लाख, हरिकान्त के ३६ लाख, अमितवाहन के ३६ लाख, अग्निवाहन के ३६ लाख और प्रभञ्जन के ४६ लाख भवन हैं।

इन्द्रों की इस भवन-संख्या में उनके परिवार वाले देवों के भवनों की संख्या भी सम्मिलित है।

५३. **प्रश्न : इन भवनों की लम्बाई आदि क्या है तथा इन भवनों की क्या विशेषता है ?**

उत्तर : भवनों की लम्बाई, चौड़ाई का जघन्य प्रमाण संख्यात योजन और उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यात योजन है। वे समस्त भवन चौकोर होते हैं। उनका बाहल्य (ऊँचाई) तीन सौ योजन है। प्रत्येक भवन के बीच में सौ योजन ऊँचा एक पर्वत है और प्रत्येक पर्वत पर एक-एक चैत्यालय है। भवनों की भूमि और दीवारें रत्नमयी होती हैं। वे भवन सतत् प्रकाशमान रहते हैं और सर्वेन्द्रियों को सुख देने वाली चन्दनादि वस्तुओं से सिक्त होते हैं।

५४. प्रश्न : नरक-बिल भी इसी प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी में चित्रादि पृथ्वियों के नीचे अब्बहुल भाग में बने हुए हैं, फिर उन्हें भवन संज्ञा न देकर बिल संज्ञा क्यों दी गई है ?

उत्तर : जिस प्रकार यहाँ सर्पादि पापी जीवों के स्थानों को बिल कहते हैं और पुण्यवान मनुष्यों के रहने के स्थानों को भूमिगृह आदि कहते हैं, उसी प्रकार निकृष्ट पाप के फल को भोगने वाले नारकी जीवों के रहने के स्थानों की संज्ञा बिल है और पुण्यवान देवों के रहने के स्थानों की संज्ञा भवन है।

५५. प्रश्न : भवनलोक में अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : भवनलोक में सात करोड़ बहत्तर लाख अकृत्रिम चैत्यालय

हैं, जिनमें देव-देवांगनाएँ भक्तिपूर्वक नृत्य, संगीत एवं गान आदि द्वारा जिन-पूजन करते हैं। भवनों की जितनी संख्या है, अकृत्रिम चैत्यालयों की उतनी ही संख्या है।

५६. प्रश्न : भवनवासी देवों में आहार और श्वासोच्छ्वास का क्या क्रम है ?

उत्तर : असुरकुमार देव १००० वर्ष में आहार ग्रहण करते हैं और एक पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। नागकुमार, सुपर्णकुमार और द्वीपकुमार १२$\frac{१}{२}$ दिन में आहार ग्रहण करते हैं तथा १२$\frac{१}{२}$ मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उदधिकुमार, स्तनितकुमार और विद्युत्कुमार १२ दिन में आहार ग्रहण करते हैं एवं १२ मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास लेते हैं तथा दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार देव ७$\frac{१}{२}$ दिन में आहार ग्रहण करते हैं और ७$\frac{१}{२}$ मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। ये देव अति-स्निग्ध और अनुपम अमृतमय आहार को मन से ग्रहण करते हैं।

५७. प्रश्न : भवनवासी देवों का गमन कहाँ-कहाँ पर होता है ?

उत्तर : भक्ति से युक्त सभी इन्द्रादिदेव पंच-कल्याणकों के निमित्त ढाई द्वीप में तथा जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजन के निमित्त नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं। शीलादिक गुणों से संयुक्त किन्हीं

मुनिवरादिक की पूजन एवं परीक्षा के निमित्त, अपनी-अपनी क्रीड़ा करने के लिए अथवा शत्रु-समूह को नष्ट करने की इच्छा से असुरकुमारादिक देवों की गति ऊर्ध्वरूप से (अन्य की सहायता के बिना) ऐशान स्वर्ग पर्यन्त और दूसरे देवों की सहायता से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त होती है। नीचे तीसरी पृथ्वी तक जा सकते हैं।

५८. प्रश्न : भवनवासी देवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु कितनी होती है ?

उत्तर : भवनवासी देवों के दक्षिणेन्द्रों में (१) चमर (२) भूतानन्द (३) वेणु (४) पूर्ण एवं (५) जलप्रभादि छह देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः १ सागर, ३ पल्य, २ १/२ पल्य, २ पल्य एवं १ १/२ पल्य होती है।

उत्तरेन्द्रों में (१) वैरोचन (२) धरणानन्द (३) वेणुधारी (४) वशिष्ठ एवं (५) जलकान्त आदि छह देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः साधिक १ सागर, साधिक ३ पल्य, साधिक २ १/२ पल्य, साधिक २ पल्य एवं साधिक १ १/२ वों पल्य होती है। भवनवासी देवों की जघन्य आयु १०,००० वर्ष की होती है।

५९. प्रश्न : आयु की अपेक्षा भवनवासी देवों का सामर्थ्य कितना होता है ?

उत्तर : जो देव दस हजार वर्ष की आयु वाला है, वह अपनी

शक्ति से एक सौ मनुष्यों को मारने अथवा पीसने के लिये समर्थ है तथा वह देव डेढ़ सौ धनुष प्रमाण लम्बे, चौड़े और मोटे क्षेत्र को बाहुओं से वेष्टित करने और उखाड़ने में भी समर्थ है।

एक पल्योपम आयु वाला देव पृथ्वी के छह खण्डों को उखाड़ने तथा वहाँ रहने वाले मनुष्यों एवं तिर्यंचों को मारने अथवा पीसने के लिए समर्थ है।

एक सागरोपम काल तक जीवित रहने वाला देव समग्र जम्बूद्वीप को उखाड़ फेंकने तथा तहस-नहस करने और उसमें स्थित मनुष्यों एवं तिर्यंचों को मारने अथवा पीसने के लिए समर्थ है।

जिस देव की संख्यात् वर्ष की आयु है, वह एक समय में संख्यात् योजन जाता है और इतने ही योजन आता है।

जिस देव की आयु असंख्यात् वर्ष की है, वह एक समय में असंख्यात् योजन जाता है और इतने ही योजन आता है।

६०. प्रश्न : भवनवासी देवों के ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यग् दिशा में अवधिज्ञान का प्रमाण क्या है ?

उत्तर : अपने-अपने भवन में स्थित भवनवासी देवों का अवधिज्ञान ऊर्ध्वदिशा में उत्कृष्ट रूप से मेरु पर्वत के शिखर

पर्यन्त क्षेत्र को विषय करता है। अधःदिशा में अपने-अपने भवनों के नीचे-नीचे थोड़े-थोड़े क्षेत्र में प्रवृत्ति करता है एवं तिरछे रूप से बहुत अधिक क्षेत्र में अबाधित प्रवृत्ति करता है।

क्षेत्र की अपेक्षा भवनवासी देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण जघन्य रूप से पच्चीस योजन है। काल की अपेक्षा एक दिन के भीतर की वस्तु को विषय करता है। उत्कृष्ट रूप से क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा असुरकुमार देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण क्रमशः असंख्यात करोड़ योजन एवं असंख्यात वर्ष मात्र है। शेष देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण, क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा क्रमशः उत्कृष्ट रूप से असंख्यात हजार योजन और असुकुमारों के अवधिज्ञान के काल से संख्यात-गुणा कम है।

६१. प्रश्न : भवनवासी देवों का उत्सेध कितना होता है एवं विक्रिया कितनी होती है ?

उत्तर : असुरकुमार देवों के शरीर की ऊँचाई २५ धनुष और शेष देवों की ऊँचाई १० धनुष मात्र होती है। दस प्रकार के भवनवासी देव अनेक रूपों की विक्रिया करते हुये अपने-अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र को पूरित करते हैं। विक्रिया द्वारा निर्मित उनके शरीरों की ऊँचाई अनेक प्रकार की होती है।

६२. प्रश्न : भवनत्रिक में कामसेवन किस प्रकार होता है ?

उत्तर : भवनत्रिक देव काय-प्रवीचार से युक्त होते हैं तथा वेद नोकषाय की उदीरणा होने पर वे मनुष्यों के समान कामसुख का अनुभव करते हैं।

सप्त धातुओं से रहित होने के कारण निश्चय से उन देवों के वीर्य का क्षरण नहीं होता। केवल वेद-नोकषाय की उदीरणा के शान्त होने पर उन्हें संकल्पसुख उत्पन्न होता है।

६३. प्रश्न : भवनवासी देव किनकी पूजा करते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से युक्त देव तो कर्मक्षय के निमित्त नित्य ही अत्यधिक भक्ति से जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की पूजा करते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि देवों से सम्बोधित किये गये मिथ्यादृष्टि देव भी कुल-देवता मानकर जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की नित्य ही नाना प्रकार से पूजा करते हैं।

६४. प्रश्न : भवनवासी देवों में उत्पत्ति के क्या कारण हैं ?

उत्तर : ज्ञान चारित्र में दृढ़ शंका वाले, संक्लेश परिणामों वाले, दोषपूर्ण चारित्र वाले, उन्मार्गगामी, निदान भावों से युक्त, पापों की प्रमुखता से सहित, कामिनी के विरहरूपी ज्वर से जर्जरित, कलह -प्रिय और पापिष्ठ कितने ही अविनयी जीव एवं मिथ्यात्व भाव से संयुक्त कितने ही संज्ञी और असंज्ञी जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं। जो क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त हैं, दुश्चारित्र

वाले हैं तथा बैर-भाव में रुचि रखते हैं; वे असुरों में उत्पन्न होते हैं।

६५. देव-दुर्गतियों में उत्पत्ति के क्या कारण हैं ?

उत्तर : समाधिमरण के विराधित करने पर कितने ही जीव कन्दर्प, किल्विष, आभियोग्य और सम्मोह आदि देव- दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं।

जो सत्य वचन से रहित हैं, बहुजन में हँसी करते हैं और जिनका हृदय कामासक्त रहता है, वे निश्चय से कन्दर्प देवों में उत्पन्न होते हैं।

जो भूतिकम, मन्त्राभियोग और कौतूहलादि से संयुक्त हैं तथा लोगों की वंचना करने में प्रवृत्त रहते हैं, वे वाहनदेवों में उत्पन्न होते हैं।

तीर्थंकर, संघ-प्रतिमा एवं आगम-ग्रन्थादिक के विषय में प्रतिकूल, दुर्विनयी तथा प्रलाप करने वाले जीव किल्विषिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

कुमार्ग का उपदेश करने वाले, जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्ग के विरोधी और मोह से मुग्ध जीव सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं।

६६. प्रश्न : व्यन्तर देवों के कितने और कौन-कौन से इन्द्र हैं ?

उत्तर : व्यन्तरों के आठ प्रकार के भेदों में से प्रत्येक में दो-दो इन्द्र और दो-दो प्रतीन्द्र होने से कुल सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र होते हैं।

किन्नरों के किम्पुरुष और किन्नर, किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगों के महाकाय और अतिकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षों के मणिभद्र और पूर्णभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, भूतों के स्वरूप और प्रतिरूप, पिशाचों के काल और महाकाल ये सोलह इन्द्र हैं।

६७. प्रश्न : किन्नर आदि व्यन्तर देवों के शरीर का रंग कैसा है ?

उत्तर : किन्नर नाम के व्यन्तर देवों के शरीर का वर्ण प्रियंगुपुष्प सदृश, किम्पुरुषों का वर्ण स्वर्ण सदृश, महारगों का काला गन्धर्वो का शुद्ध स्वर्ण सदृश, यक्ष, राक्षस और भूत जाति के देवों के शरीर का रंग श्याम तथा पिशाच जाति के व्यन्तर देवों का वर्ण कज्जल सदृश होता है।

६८. प्रश्न : व्यन्तर देवों का निवासक्षेत्र कितना है ?

उत्तर : राजू के वर्ग को एक लाख निन्यानवे हजार योजन से गुणा

करने पर जो प्राप्त हो वह व्यन्तर देवों का निवासक्षेत्र है, यथा १ राजू × १ राजू × १,९९,००० योजन (पंक भाग से मेरु पर्वत की ऊँचाई पर्यन्त का क्षेत्र) प्रमाण व्यन्तर देवों का निवासक्षेत्र है। इस निवासक्षेत्र में व्यन्तर देवों के तीन प्रकार के पुर होते हैं।

६९. प्रश्न : व्यन्तर देवों के निवासस्थान के कितने भेद हैं ? उन भेदों के लक्षण बतलाइये ?

उत्तर : व्यन्तर देवों के निवासस्थान के तीन भेद हैं।
(१) भवन, (२) भवनपुर, (३) आवास।

जो स्थान पृथ्वी से नीचे अर्थात् रत्नप्रभा पृथ्वी में हैं, उन्हें भवन कहते हैं। जो निवासस्थान मध्यलोक की समभूमि पर हैं एवं द्वीप-समुद्रों के ऊपर हैं, उन्हें भवनपुर कहते हैं। जो स्थान पृथ्वी से ऊँचे हैं और द्रह (तालाब) एवं पर्वतादिकों के ऊपर हैं उन्हें आवास कहते हैं। कोई व्यन्तरदेव मात्र भवनों में रहते हैं, कोई भवन और भवनपुर दोनों में रहते हैं और कोई भवन, भवनपुर तथा आवास तीनों में रहते हैं।

७०. प्रश्न : व्यन्तरदेव कहाँ निवास करते हैं ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में जम्बूद्वीप से तिरछे दक्षिण एवं उत्तर दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बाद क्रमशः दक्षिणेन्द्र, उत्तरेन्द्र एवं उनके परिवार वाले किन्नर, किम्पुरुष, महोरग,

गन्धर्व, यक्ष, भूत और पिशाच इन सात प्रकार के व्यन्तरदेवों के आवास हैं।

रत्नप्रभ पृथ्वी के पंकबहुल भाग में जम्बूद्वीप से तिरछे दक्षिण एवं उत्तर दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बाद क्रमशः दक्षिणेन्द्र, उत्तरेन्द्र एवं उनके परिवार वाले राक्षस नामक व्यन्तरों के आवास हैं।

चित्रा और वज्रा पृथ्वी की सन्धि से प्रारम्भ कर मेरु पर्वत की ऊँचाई तक तथा मध्यलोक का विस्तार जहाँ तक है वहाँ तक के समस्त क्षेत्र में व्यन्तरदेव यथायोग्य भवनपुरों, आवासों एवं भवनों में रहते हैं।

७१. प्रश्न : व्यन्तर देवों के चैत्यवृक्ष कौन से हैं ? उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर : व्यन्तर देवों के क्रमशः अशोक, चम्पा, नागकेसर, तुम्बरु, वट, कण्टकतरु, तुलसी और कदम्ब नाम के चैत्यवृक्ष होते हैं।

चैत्यवृक्षों के मूल की प्रत्येक दिशा में पल्यंकासन से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाएँ हैं। प्रत्येक प्रतिमा के आगे एक-एक मानस्तम्भ है जो नाना प्रकार की मोतियों की मालाओं एवं दिव्य घण्टाजाल आदि से सुशोभित है।

७२. **प्रश्न : व्यन्तर देवों में आहार और श्वासोच्छ्वास की क्या व्यवस्था है ?**

उत्तर : जिन व्यन्तर देवों की आयु पल्य प्रमाण है, उनका पाँच दिन के अन्तर से आहार होता है और पाँच मुहूर्त बाद वे उच्छ्वास लेते हैं। जिन व्यन्तर देवों की आयु मात्र दस हजार वर्ष है, उनका आहार दो दिन बाद और उच्छ्वास सात श्वासोच्छ्वास पश्चात् होता है। किन्नर आदि व्यन्तर देव तथा देवियाँ दिव्य एवं अमृतमय आहार का उपभोग मन से ही करते हैं, उनके कवलाहार नहीं होता।

७३. **प्रश्न : नीचोपपाद आदि व्यन्तर देवों का निवास कहाँ पर है ?**

उत्तर : चित्रा पृथ्वी से एक हाथ ऊपर नीचोपपादिक देव स्थित हैं। इनसे १०,००० हाथ ऊपर दिग्वासी देव हैं। इनसे १०,००० हाथ ऊपर अन्तरवासी और इनसे १०,००० हाथ ऊपर कूष्माण्ड देव निवास करते हैं। इनसे २०,००० हाथ ऊपर उत्पन्न, इनसे २०,००० हाथ ऊपर अनुत्पन्न, इनसे २०,००० हाथ ऊपर प्रमाणक, इनसे २०,००० हाथ ऊपर गन्ध, इनसे २०,००० हाथ ऊपर महागन्ध, इनसे २०,००० हाथ ऊपर भुजंग, इनसे २०,००० हाथ ऊपर प्रीतिक और इनसे २०,००० हाथ ऊपर आकाशोत्पन्न

व्यन्तर देव निवास करते हैं।

७४. प्रश्न : व्यन्तर देवों की आयु कितनी होती है ?

उत्तर : व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण, मध्यम आयु असंख्यात वर्ष प्रमाण और जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण होती है।

७५. प्रश्न : व्यन्तर देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है ?

उत्तर : दस हजार वर्ष प्रमाण आयु वाले व्यन्तर देवों के अविधिज्ञान का विषय ऊपर और नीचे जघन्य ५ कोस तथा उत्कृष्ट ५० कोस प्रमाण है। पल्योपम प्रमाण आयुवाले व्यन्तरदेव अवधिज्ञान से नीचे और ऊपर एक-एक लाख योजन प्रमाण देखते हैं।

७६. प्रश्न : व्यन्तर देवों में कितना सामर्थ्य होता है ?

उत्तर : दस हजार वर्ष प्रमाण आयु वाला प्रत्येक व्यन्तर देव एक सौ मनुष्यों को मारने एवं पालन करने में समर्थ होता है। वह देव अपनी शक्ति से एक सौ पचास धनुष प्रमाण विस्तार एवं बाहल्य से युक्त क्षेत्र को उखाड़ कर अन्यत्र रख सकता है। एक पल्य प्रमाण आयु वाला व्यन्तर देव अपनी भुजाओं से छह खण्डों को उलटने में समर्थ है और उनमें स्थित मनुष्यों को मारने तथा

पालने में भी समर्थ है।

७७. **प्रश्न : व्यन्तर देवों की विक्रिया शक्ति एवं गमन शक्ति कितनी होती है ?**

उत्तर : दस हजार वर्ष की आयु वाला व्यन्तर देव उत्कृष्ट रूप से सौ रूपों की, जघन्य रूप से सात रूपों की और मध्यम रूप से विविध रूपों की विक्रिया करता है।

शेष व्यन्तर देवों में से प्रत्येक देव अपने-अपने अवधिज्ञान का जितना क्षेत्र है उतने प्रमाण क्षेत्र को विक्रिया बल से पूर्ण करता है।

संख्यात वर्ष प्रमाण आयु वाला व्यन्तर देव एक समय में संख्यात योजन और असंख्यात वर्ष प्रमाण आयु वाला देव असंख्यात योजन जाता है।

७८. **प्रश्न : व्यन्तर देव सम्बन्धी जिन-भवनों का प्रमाण कितना है ?**

उत्तर : जगत्प्रतर के संख्यात भाग में तीन सौ योजनों के वर्ग का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने प्रमाण जिनमन्दिर व्यन्तरलोक में हैं।

$$\text{व्यन्तरलोक के जिनभवन} = \frac{\text{जगत्प्रतर}}{\text{संख्यात} \times (३००)^2}$$

७९. प्रश्न : खोटे मनुष्यों को चाहने के कारण किन्नर, कुत्सित पुरुषों की कामना करने के कारण किम्पुरुष, मांस खाने से पिशाच इत्यादि कारणों से ये संज्ञायें क्यों नहीं मानते ?

उत्तर : व्यन्तरों में किम्पुरुष आदि की क्रिया-निमित्तक संज्ञा मानना उचित नहीं है, यह सब तो देवों का अवर्णवाद है।

ये देव पवित्र वैक्रियिक शरीरधारी होते हैं। ये कभी अशुचि औदारिक शरीर वाले मनुष्य आदि की कामना नहीं करते हैं और न मांस-मदिरादि के खान-पान में ही प्रवृत्त होते हैं। लोक में जो व्यन्तरों की मांसादि-ग्रहण की प्रवृत्ति सुनी जाती है, वह केवल उनकी क्रीड़ा मात्र है। उनके तो मानसिक आहार होता है।

देवगति नामकर्म के उत्तरोत्तर प्रकृति भेद के उदय से किन्नरादि विशेष संज्ञायें होती हैं।

८०. प्रश्न : भवनत्रिक देवों में कौन-सी लेश्या होती है ?

उत्तर : भवनत्रिक देव एवं देवियों में कृष्ण, नील, कापोत और जघन्य से पीत लेश्या होती है। सब देवों में द्रव्य और भाव लेश्या समान होती है।

८१. प्रश्न : भवनत्रिक देवों में कौन-कौन से सम्यग्दर्शन होते हैं ?

उत्तर : भवनत्रिक देवों में अपर्याप्त अवस्था में कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है। पर्याप्त अवस्था में औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नया प्राप्त किया जा सकता है। सम्यग्दर्शन सहित भवनत्रिक देवों में उत्पत्ति नहीं होती है।

८२. प्रश्न : भवनत्रिक देवों में कौन-कौन से गुण-स्थान होते हैं ?

उत्तर : भवनत्रिक देवों में अपर्याप्त अवस्था में एक मिथ्यात्व[1]

कहा भी है- भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसियदेवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्पवासियदेवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासण-सम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ, सिया अपज्जत्तियाओ।

(धवल- /३३७ सूत्र ९६)

अर्थ- भवनवासी, वाण व्यन्तर, ज्योतिषी देव और उनकी देवियाँ तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासिनी देवियाँ ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्त भी होते हैं तथा अपर्याप्त भी होते हैं। (षट्-खण्डागम मूल ९६ तथा धवल /३३७, धवल ६/४४२, धवल ६/४६६-६७ आदि) अतः भवनत्रिक देवों में अपर्याप्त दशा में मिथ्यात्व तथा सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। (ति. प. ३/ ८५) गो.जी./जी.प्र. तथा कन्नड टीका गा. ७२८, पृष्ठ ६८४, भाग- २, ज्ञानपीठ प्रकाशन, धवल २/५४६-४७ आदि)

तथा सासादन गुणस्थान होता है। पर्याप्त अवस्था में एक से चार गुणस्थान हो सकते हैं।

८३. प्रश्न : भवनत्रिक देवों में कौन उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : अकामनिर्जरा और बालतप करने वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य तथा तिर्यञ्च भवनत्रिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

८४. प्रश्न : भवनत्रिक देव कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : भवनत्रिक देव वहाँ से चयकर कर्मभूमिज मनुष्य एवं तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते हैं। आयु-बन्ध के समय यदि तीव्र संक्लेश भाव हो तो अग्निकायिक और वायुकायिक को छोड़कर शेष बादर एकेन्द्रियों में भी उत्पन्न हो सकते हैं। विकलत्रय में उत्पन्न नहीं होते हैं।

८५. प्रश्न : देवों की ज्योतिषी संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण ये पाँचों प्रकार के देव ज्योतिर्मय हैं। प्रकाश करने का ही स्वभाव होने से इन पाँचों देवों की ज्योतिषी देव यह संज्ञा सार्थक है।

८६. प्रश्न : ज्योतिषी देवों का निवास कहाँ पर है ?

उत्तर : चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन तक की ऊँचाई में अर्थात् राजू के वर्ग को एक सौ दस

योजनों से गुणा करने पर (१ राजू × १ राजू × ११० योजन) जो लब्ध आवे, उसमें से अगम्य क्षेत्र को छोड़कर शेष क्षेत्र में ज्योतिषी देवों का निवास है। भूमि के समतल भाग से सात सौ नब्बे योजन ऊपर सबसे नीचे तारागण हैं। उनसे दस योजन ऊपर प्रतीन्द्र स्थानीय सूर्य और उससे अस्सी योजन ऊपर इन्द्र स्थानीय चन्द्रमा भ्रमण करते हैं। चन्द्रमा से तीन योजन ऊपर नक्षत्र और नक्षत्र से तीन योजन ऊपर बुध का स्थान है। बुध के तीन योजन ऊपर शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे चार योजन ऊपर मंगल और मंगल से चार योजन ऊपर शनि ग्रह भ्रमण करता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण ज्योतिष्क चक्र नभस्थल में एक सौ दस योजन प्रमाण ऊँचाई और असंख्यात द्वीप-समूह प्रमाण लम्बाई अथवा घनोदधि वातवलय पर्यन्त पूर्व-पश्चिम एक राजू की लम्बाई एवं दक्षिणोत्तर एक राजू प्रमाण क्षेत्र में स्थित है।

८७. प्रश्न : अगम्य क्षेत्र का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : त्रिलोकसार गाथा ३४५ के अनुसार "ज्योतिर्गण सुमेरु पर्वत को ११२१ योजन छोड़कर गमन करते हैं।" ज्योतिर्देवों के संचार से रहित सुमेरु के दोनों पार्श्व भागों का यह प्रमाण (११२१ X २) = २२४२ योजन होता है। भूमि पर सुमेरु का विस्तार १०,००० योजन है। इन दोनों को जोड़ देने पर ज्योतिर्देवों के

अगम्य क्षेत्र का सूची-व्यास १०,००० + २२४२ = १२,२४२ योजन होता है।

अगम्य क्षेत्र का घनफल =

$$\sqrt{(१२,२४२)^2 \times १० \times}\left\{\frac{१२,२४२}{४}\right\} \times ११० \text{ योजन}$$

= १३०३२६२५०१५ घन योजन है। यह अगम्य क्षेत्र का प्रमाण है।

९८. प्रश्न : ज्योतिषी देवों के गमन में क्या विशेषता है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्डद्वीप, कालोदधि समुद्र और अर्ध पुष्करवर द्वीप के अर्थात् अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र सम्बंधी ज्योतिष्क देव मेरु पर्वत से ११२१ योजन छोड़कर मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए निरन्तर चलते रहते हैं।

इससे बाह्यक्षेत्र के ज्योतिष्क देव अवस्थित हैं। गति में रत ज्योतिष्क देवों के द्वारा काल का विभाग होता है। चन्द्र, सूर्य और ग्रह इन तीन को छोड़कर शेष नक्षत्र व तारागण सदा एक ही मार्ग में गमन करते हैं।

८९. प्रश्न : मनुष्यलोक सम्बन्धी ज्योतिष्क देवों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : मनुष्यलोक के ज्योतिषी देवों का प्रमाण :-

सं. द्वीप-समुद्रों के नाम	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारा: अस्थिर तारा	तारा: स्थिर तारा
१. जम्बूद्वीप	२	२	१७६	५६	१,३३,९५० को. को.	३६
२. लवणसमुद्र	४	४	३५२	११२	२,६७,९०० "	१३९
३. धातकीखण्ड	१२	१२	१०५६	३३६	८,०३,७०० "	१०१०
४. कालोदधि समुद्र	४२	४२	३६९६	११७६	२८,१२,९५० "	४११२०
५. पुष्करार्ध द्वीप	७२	७२	६३३६	२०१६	४८,२२,२०० "	५३२३०
योग	१३२	१३२	११६१६	३६९६	८८,४०,७०० "	९५५३५

९०. **प्रश्न : ज्योतिष्क देवों के और राहु, केतु के विमानों का स्वरूप कैसा है एवं उनकी किरणें कितनी-कितनी हैं ?**

उत्तर : जिस प्रकार एक गोले के दो खण्ड करके उन्हें ऊर्ध्वमुख रखा जावे तो चौड़ाई का भाग ऊपर और गोलाई वाला संकरा भाग नीचे रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वमुख अर्धगोले के सदृश ज्योतिषी देवों के विमान स्थित हैं। विमानों का मात्र नीचे का गोलाकार भाग ही हमारे द्वारा दृश्यमान है ज्योतिषी देवों के विमान पृथ्वीकायिक होते हैं।

राहु का विमान चन्द्रविमान के नीचे और केतु का विमान सूर्य विमान के नीचे गमन करता है। प्रत्येक छह माह बाद पर्व के अन्त में अर्थात् पूर्णिमा और अमावस्या के अन्त में राहु चन्द्रमा को और केतु सूर्य को आच्छादित करता है, इसी का नाम ग्रहण है।

चन्द्रमा की किरणें बारह हजार प्रमाण हैं और शीतल हैं। सूर्य की किरणें भी बारह हजार हैं, किन्तु वे तीक्ष्ण (उष्ण) हैं। शुक्र की किरणें अढ़ाई हजार हैं वे तीव्र अर्थात् प्रकाश से उज्ज्वल हैं। शेष ज्योतिषी देवों की किरणें मन्द प्रकाश वाली हैं।

६१. प्रश्न : ज्योतिष्क देवों का विस्तार एवं बाहल्य कितना है ?

उत्तर : सर्व ज्योतिर्विमानों का बाहल्य अपने-अपने व्यास के अर्द्धभाग प्रमाण है।

क्र.	ज्योतिर्बिम्बों के नाम	व्यास (विस्तार) योजनों में	व्यास (विस्तार) मीलों में	बाहल्य (मोटाई) योजनों में	बाहल्य (मोटाई) मीलों में
१.	चन्द्र विमान	$\frac{४८}{६१}$ योजन	३६७२ $\frac{८}{६१}$ मील	$\frac{२८}{६१}$ योजन	१८३६ $\frac{४}{६१}$ मील
२.	सूर्य	$\frac{५६}{६१}$ योजन	३१४७ $\frac{३३}{६१}$ मील	$\frac{२४}{६१}$ योजन	१५७३ $\frac{४७}{६१}$ मील
३.	शुक्र	१ कोस	१००० मील	$\frac{१}{२}$ कोस	५०० मील
४.	गुरु	कुछ कम १ कोस	कुछ कम १००० मील	कुछ कम $\frac{१}{२}$ को	कुछ कम ५०० मील
५.	बुध	आधा कोस	५०० मील	$\frac{१}{४}$ कोस	२५० मील
६.	मंगल	आधा कोस	५०० मील	$\frac{१}{४}$ कोस	२५० मील
७.	शनि	आधा कोस	५०० मील	$\frac{१}{४}$ कोस	२५० मील

८.	ताराओं का जघन्य	१/४ कोस	२५० मील	१/८ कोस	१२५ मील
	तारा का मध्यम	१/२ व ३/४ कोस	–	–	–
	तारा का उत्कृष्ट[1]	१ कोस	१००० मील	१/२ कोस	५०० मील
९.	नक्षत्र विमान	१ कोस	१००० मील	१/२ कोस	५०० मील
१०.	राहु विमान	कुछ कम १ यो.	कुछ कम ४००० मील	कुछ कम १/२ योजन	कुछ कम २००० मील
११.	केतु विमान	कुछ कम १ यो.	कुछ कम ४००० मील	कुछ कम १/२ यो.	कुछ कम २००० मील

१. यहाँ ताराओं का जघन्य विस्तार १/४ कोस, मध्यम विस्तार १/२ कोस तथा ३/४ कोस, उत्कृष्ट विस्तार १ कोस कहा है। यह मत ति. प.५ ११०/१११ गा., त्रि. सार गाथा ३३७/३३८ सिद्धान्तसार दीपक १४/१८–२१ आदि में लिखा है। रा. वा. में इससे भिन्न उल्लेख है। तारकाविमानानां वैपुल्यं जघन्यं क्रोशचतुर्भागः, मध्यमं साधिकः क्रोशचतुर्भागः, उत्कृष्टम् अर्धगव्युतम् (रा. वा.) में इससे भिन्न उल्लेख है। तारकाविमानानां वैपुल्यं जघन्यं क्रोशचतुर्भागः, उत्कृष्टम् अर्ध गव्युतम् (रा. वा. ४/१२/१० पृ. २१९ तथा ४०६) गव्युत = कोस, रा. वा. ३/३/६ पृ. ६०८

६२. **प्रश्न : ज्योतिष्क विमानों का पारस्परिक अन्तर कितना है ?**

उत्तर : ताराओं का जघन्य अन्तर एक कोस का सातवाँ भाग है, मध्यम अन्तर पचास कोस और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है सूर्य से सूर्य का और चन्द्र से चन्द्र का जघन्य अन्तर ९९,६४० योजन है, उत्कृष्ट अन्तर १,००,६६० योजन है। (रा. वा. ४)

६३. **प्रश्न : अढ़ाई द्वीप से बाहर ज्योतिषी देवों की संख्या एवं अवस्थान किस प्रकार है ?**

उत्तर : पुष्करार्ध द्वीप के बाह्य भाग के प्रथम वलय में १४४ चन्द्र और १४४ सूर्य हैं तथा द्वितीयादि वलयों में प्रथमादि वलयों से चार-चार की वृद्धि को लिए हुए हैं। पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्रों के आदि में चन्द्र, सूर्य की जो संख्या है, उससे उत्तरोत्तर द्वीप-समुद्रों की आदि में चन्द्र-सूर्य की संख्या दूनी-दूनी है। जैसे-पुष्करार्ध द्वीप के प्रथम वलय में १४४-१४४ चन्द्र-सूर्य हैं, पुष्करवर समुद्र के प्रथम वलय में २८८-२८८ चन्द्र-सूर्य हैं, आदि।

मानुषोत्तर पर्वत से ५०,००० योजन जाकर बाह्य पुष्करार्ध में प्रथम वलय में १४४-१४४ चन्द्र-सूर्य हैं। प्रथम वलय से एक-एक लाख योजन आगे जाते हुए क्रम से द्वितीयादि वलयों में चार-चार की वृद्धि को लिए हुए चन्द्र-सूर्य हैं। इसी प्रकार

द्वीप-समुद्रों की वेदिका के मूल से ५० हजार योजन जाकर प्रथम वलय है, इसके बाद एक-एक लाख योजन आगे-आगे द्वितीयादि वलय हैं। सामान्य से सब ज्योतिषी देवों की संख्या असंख्यात है (रा.वा. ४/१३/४)

६४. **प्रश्न : मनुष्य लोकसम्बन्धी चन्द्र-सूर्य का गमनक्षेत्र कितना है ?**

उत्तर : चन्द्र-सूर्य के गमन करने की क्षेत्रगली को चारक्षेत्र कहते हैं। दो चन्द्र और दो सूर्यों के प्रति एक-एक चारक्षेत्र होता है। जम्बूद्वीप के दो सूर्यों का एक चारक्षेत्र है। लवणसमुद्र के चार सूर्यों के दो चारक्षेत्र, धातकीखण्ड द्वीप के १२ सूर्यों के ६ चारक्षेत्र, कालोदक समुद्र के ४२ सूर्यों के २१ चारक्षेत्र और पुष्करार्ध द्वीप के ७२ सूर्यों के ३६ चारक्षेत्र हैं।

जम्बूद्वीप सम्बंधी चन्द्र और सूर्य जम्बूद्वीप में तो १८० योजन क्षेत्र में ही विचरते हैं। शेष ३३० $\frac{४८}{६१}$ योजन लवण समुद्र में विचरते हैं अर्थात् दो-दो चन्द्र और सूर्य ५१० $\frac{४८}{६१}$ योजन प्रमाणक्षेत्र में विचरते हैं। शेष पुष्करार्ध पर्यन्त के चन्द्र-सूर्य अपने-अपने क्षेत्र में विचरते हैं।

५१० $\frac{४८}{६१}$ योजन प्रमाण वाले चारक्षेत्र में चन्द्रमा की १५ गलियाँ एवं सूर्य की १८४ गलियाँ हैं। इनमें से क्रमशः दोनों चन्द्र

और दोनों सूर्य एक-एक गली (वीथी) में प्रतिदिन संचार करते हैं।

९५. प्रश्न : विसदृश प्रमाण वाली परिधियों को सूर्य-चन्द्र समानकाल में कैसे समाप्त करते हैं ?

उत्तर : सूर्य और चन्द्र प्रथम वीथी में हाथीवत् मध्यम वीथी में घोड़ेवत् और अन्तिम वीथी में सिंहवत् गमन करते हैं। अर्थात् अभ्यन्तरादि वीथी से आगे जाते समय शीघ्रगति से एवं बाह्यादि वीथी से पीछे आते समय मन्द गति से गमन करते हैं। इस प्रकार विषम वीथियों को समान काल में पूरा कर लेते हैं।

९६. प्रश्न : ज्योतिषी देवों का गमन किस प्रकार है ?

उत्तर : ज्योतिषी देवों में चन्द्रमा का सबसे मन्द गमन है, सूर्य चन्द्रमा से शीघ्रगामी है, ग्रह सूर्य से शीघ्रगामी है,नक्षत्र ग्रह से शीघ्रगामी है और तारागण उससे भी अधिक शीघ्रगामी हैं।

चन्द्रमा अभ्यन्तर वीथी में एक मिनट में ४,२२,७९७ ३१/१६४७ मील चलता है। अभ्यन्तर वीथी में सूर्य एक मिनट में ४,३७,६२३ २३/९८ मील चलता है।

९७. प्रश्न : ज्योतिषी देवों के संचार से क्या होता है ?

उत्तर : ज्योतिषी देवों के संचार से काल का विभाग होता है। जम्बूद्वीप की वेदी के पास १८० योजन की अभ्यन्तर (प्रथम) वीथी

में जब सूर्य भ्रमण करता है, तब दिन १८ मुहूर्त (१४ घं. २४ मि.) का और रात्रि १२ मुहूर्त (९ घं. ३६ मि.) की होती है, किन्तु जब वही सूर्य बाह्य (अन्तिम) परिधि में भ्रमण करता है, तब दिन १२ मुहूर्त का और रात्रि १८ मुहूर्त की होती है। श्रावण माह में कर्क राशि पर स्थित सूर्य अभ्यन्तर परिधि में भ्रमण करता है। माघ माह में मकर राशि पर स्थित सूर्य सबसे बाह्य परिधि में भ्रमण करता है। क्षेत्र की दूरी और गति की हीनाधिकता से दिन छोटे-बड़े होते हैं। भ्रमण द्वारा दो सूर्य एक परिधि को ३० मुहूर्त में पूरा करते हैं।

९८. प्रश्न : दक्षिणायन-उत्तरायण किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूर्य के प्रथम वीथी में स्थित होने से दक्षिणायन का और अन्तिम वीथी में स्थित होने से उत्तरायण का प्रारम्भ होता है। श्रावण माह से पौष माह तक (१८३ दिन) सूर्य दक्षिणायन तथा माघ माह से आषाढ़ माह तक (१८३ दिन) उत्तरायण रहता है। दक्षिणायन के प्रारम्भ के साथ पञ्च वर्षात्मक युग का प्रारम्भ होता है।

९९. प्रश्न : सूर्य का ताप कहाँ तक फैलता है ?

उत्तर : उभ्यन्तर वीथी में स्थित सूर्य की अपेक्षा कथन-जम्बूद्वीप के व्यास का अर्ध भाग ५०,००० योजन है। इसमें से द्वीप

सम्बन्धी चारक्षेत्र का प्रमाण १८० योजन घटा देने पर (५०,०००-१८०) = ४९८२० योजन अवशेष रहा, अतः मेरु पर्वत के मध्य से लगाकर अभ्यन्तर वीथी पर्यन्त उत्तर दिशा में सूर्य का आताप ४९८२० योजन (१९,९२,८०,००० मील) दूर तक फैलता है।

लवणसमुद्र का व्यास २,००,००० योजन है। इसका छठा भाग (२,००,०००/६) = ३३,३३३ १/३ योजन होता है। इसमें द्वीप सम्बन्धी चारक्षेत्र का प्रमाण १८० योजन मिलाने पर (३३,३३३ १/३ + १८०) = ३३,५१३ १/३ योजन हुआ, अतः सूर्य का आताप अभ्यन्तर वीथी से आरम्भ कर लवणसमुद्र के छठे भाग पर्यन्त ३३५१३ १/३ योजन अर्थात् १४२०५३३३३ १/३ मील दूर तक दक्षिण दिशा में फैलता है। इसी प्रकार अन्य वीथियों में लगा लेना चाहिए।

सूर्य बिम्ब से चित्रा पृथ्वी ८०० योजन नीचे है और १००० योजन चित्रा पृथ्वी की जड़ है। सूर्य का ताप नीचे की ओर (१००० + ८००) = १८०० योजन (७२,००,००० मील) तक फैलता है।

सूर्य बिम्ब से ऊपर १०० योजन पर्यन्त ज्योतिर्लोक है, अतः सूर्य का आताप ऊपर की ओर १०० योजन (४,००,००० मील) दूर तक फैलता है।

१००. प्रश्न : अढ़ाई वर्ष में एक अधिक मास की उपलब्धि कैसे होती है ?

उत्तर : सूर्यगमन की १८४ गलियाँ हैं। एक गली से दूसरी गली दो-दो योजन (८००० मील) की दूरी पर है। एक गली से दूसरी गली में प्रवेश करता हुआ सूर्य उस मध्य के दो योजन अन्तराल को पार करता हुआ जाता है। इन पूरे अन्तरालों को पार करने का काल १२ दिन है, क्योंकि उसका एक दिन में एक अन्तराल पार करने का काल एक मुहूर्त (४८ मिनट) है, अतः एक दिन में एक मुहूर्त की, तीस दिन में (एक मास में) ३० मुहूर्त अर्थात् एक दिन की, बारह मास में १२ दिन की, अढ़ाई वर्ष में ३० दिन (एक मास) की और ५ वर्ष स्वरूप एक युग में दो मास की वृद्धि होती है।

१०१. प्रश्न : ज्योतिषी देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट आयु पल्योपम से कुछ अधिक है। चन्द्रमा की उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य, शुक्र की वर्ष अधिक एक पल्य, गुरु की एक पल्य,सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य, बुध, मंगल और शनि की आधा-आधा पल्य है।

ताराओं एवं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु पाव पल्य है।

ज्योतिष्क देवांगनाओं की आयु अपने-अपने देवों की आयु के अर्ध भाग प्रमाण होती है। सर्व निकृष्ट देवों के ३२ देवियाँ होती हैं।

१०२. प्रश्न : ज्योतिष्क विमानों के अकृत्रिम चैत्यालयों का क्या प्रमाण है ?

उत्तर : ज्योतिष्क देवों के असंख्यात विमान हैं, सब में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है, अतः अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या भी असंख्यात है।

१०३. प्रश्न : ज्योतिषी देवों के शरीर की अवगाहना एवं अवधिज्ञान का विषय कितना है ?

उत्तर : ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष प्रमाण और अवधिज्ञान का विषय भवनवासी देवों के अवधिज्ञान से असंख्यात गुणा है।

❑❑❑

तृतीयाधिकार

१०४. प्रश्न : विमान एवं वैमानिक देव क्या हैं ?

उत्तर : जिसमें रहने वाले अपने आप को विशेष पुण्यशाली मानते हैं, उन्हें विमान कहते हैं एवं उन विमानों में रहने वाले देवों को वैमानिक देव कहते हैं

१०५. प्रश्न : वैमानिक देवों के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

उत्तर : वैमानिक देवों के दो भेद हैं। (१) कल्पोपपन्न, (२) कल्पातीत। कल्पोपपन्न : इन्द्र सामानिक आदि इस प्रकार की कल्पनाएँ जिनमें पाई जायें वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। सौधर्म स्वर्ग से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त के देव कल्पोपपन्न हैं। कल्पातीत : जहाँ पर इन्द्र आदि की कल्पना नहीं है, सभी "अहमिन्द्र" हैं, वे कल्पातीत हैं। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर इनकी कल्पातीत संज्ञा है।

१०६. प्रश्न : स्वर्ग कितने हैं, इनके नाम क्या हैं एवं इनका अवस्थान कहाँ पर है ?

उत्तर : स्वर्ग सोलह हैं। १. सौधर्म, २. ऐशान, ३. सानत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्म, ६. ब्रह्मोत्तर, ७. लान्तव, ८. कापिष्ठ,

९. शुक्र, १०. महाशुक्र, ११. शतार, १२. सहस्रार, १३. आनत, १४. प्राणत, १५. आरण और १६. अच्युत।

'सुधर्मा' नामक सभा के साहचर्य से सौधर्म स्वर्ग एवं शेष इन्द्रों के नाम के साहचर्य से स्वर्गों के उपर्युक्त नाम हैं।

ऊर्ध्वलोक मेरुतल से सिद्धलोक पर्यन्त है, जिसका प्रमाण ७ राजू है। इसमें से मेरु प्रमाण अर्थात् १,००,०४० योजन का मध्यलोक है। मेरु की चूलिका से उत्तम भोगभूमिज मनुष्य के एक बाल की मोटाई प्रमाण ऊपर से स्वर्ग का प्रारम्भ है। मेरुतल से डेढ़ राजू में सौधर्म-ऐशान, इसके ऊपर डेढ़ राजू में सानत्कुमार-माहेन्द्र, इसके ऊपर-ऊपर अर्ध-अर्ध राजू के प्रमाण में क्रम से अन्य छह युगल अवस्थित हैं। इस प्रकार छह राजू में सोलह स्वर्ग स्थित हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर एक राजू में नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों का अवस्थान है। स्वर्गों की संख्या सोलह है। सोलह स्वर्गों में आदि के चार स्वर्गों एवं अन्त के चार स्वर्गों में से प्रत्येक में एक-एक इन्द्र है तथा मध्य के आठ स्वर्गों में दो-दो स्वर्ग अर्थात् एक युगल के बीच एक इन्द्र है, अतः इन्द्रों की अपेक्षा बारह कल्प माने जाते हैं।

१०७. प्रश्न : नव ग्रैवेयक कौन-कौन हैं ? इनकी ग्रैवेयक संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : नव ग्रैवेयक निम्न हैं :-१. सुदर्शन, २. अमोघ, ३. सुप्रबुद्ध, ४. यशोधर, ५. सुभद्र, ६. सुविशाल, ७. सुमनस, ८. सौमनस, ९. प्रीतिंकर।

इस प्रकार एक के ऊपर एक अधस्तन, मध्यम और उपरिम तीन-तीन ग्रैवेयक अर्थात् नव ग्रैवेयक की रचना है।

लोकाकाश को पुरुषाकार माना है, उस लोकपुरुष के ग्रीवा-स्थानीय भाग को ग्रीवा और ग्रीवा में होने वाले विमान को ग्रैवेयक विमान कहते हैं।

१०८. प्रश्न : नव अनुदिश कौन-कौन हैं तथा वे कैसे अवस्थित हैं ?

उत्तर: १. अर्चि, २. अर्चिमालिनी, ३. वैर, ४. वैरोचन, ५. सोम, ६. सोमप्रभ, ७. अंक, ८. स्फटिक, ९. आदित्य।

आदित्य नाम पटल में अर्चि, अर्चिमालिनी, वैर और वैरोचन ये चार श्रेणीबद्ध विमान क्रम से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में स्थित हैं। सोम, सोमप्रभ, अंक और स्फटिक ये चार श्रेणीबद्ध विमान क्रम से चार विदिशाओं में स्थित हैं। इन सबके मध्य में आदित्य नामक इन्द्रक विमान स्थित है। इस प्रकार ये नव अनुदिश विमान हैं।

१०९. प्रश्न : अनुत्तर विमान कौन-कौन हैं ? इनकी विजय आदि संज्ञा क्यों है और ये कैसे अवस्थित हैं ?

उत्तर : ये अनुत्तर विमान निम्न हैं :- १. विजय, २. वैजयन्त, ३. जयन्त, ४. अपराजित और ५. सर्वार्थसिद्धि।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान वाले देव दो-तीन भव से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करते हैं, अतः संसार पर विजय प्राप्त कर लेने से इनका यह विजयादि नाम सार्थक है।

सर्व अर्थों की सिद्धि हो जाने से, इसमें रहने वाले देव एक भवावतारी होते हैं, इसलिए इसका नाम सर्वार्थसिद्धि है।

सर्वार्थसिद्धि नामक पटल में विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार श्रेणीबद्ध विमान क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में एक-एक हैं। इनके मध्य में सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान है।

११०. प्रश्न : अष्टम पृथ्वी कहाँ है और इसका विस्तार आदि क्या है ?

उत्तर : सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान के ध्वजादण्ड से बारह योजन ऊपर जाकर क्रमशः बीस-बीस हजार मोटे घनोदधि, घन और तनु वातवलय हैं, इसके बाद अर्थात् तीन लोक के मस्तक पर आरूढ़

ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी है। इसकी चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) एक राजू, लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) सात राजू एवं मोटाई आठ योजन प्रमाण है।

१११. प्रश्न : सिद्धक्षेत्र कहाँ है ?

उत्तर : आठवीं पृथ्वी के बहुमध्य भाग में ऊर्ध्वमुख छत्र के आकार वाला और मनुष्यक्षेत्र प्रमाण अर्थात् ४५,००,००० योजन विस्तृत ईषत्प्राग्भार नामक सिद्धक्षेत्र है। इसका बाहल्य मध्य में ८ योजन है और अन्यत्र क्रम-क्रम से हीन होता हुआ अन्त में (दोनों छोरों पर) एक-एक अंगुल प्रमाण रह जाता है। इस सिद्धक्षेत्र के उपरिम तनुवातवलय में अर्थात् लोक के अंतिम ५२५ धनुष प्रमाण क्षेत्र में अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठियों का निवास है।

११२. प्रश्न : ऊर्ध्वलोक में कितने अकृत्रिम चैत्यालय हैं ?

उत्तर : ऊर्ध्वलोक में सम्पूर्ण विमानों की संख्या ८४,९७,०२३ है। प्रत्येक विमान में एक-एक जिनमन्दिर है अतः ऊर्ध्वलोक के सम्पूर्ण जिनमन्दिरों का प्रमाण भी ८४,९७,०२३ है।

११३. प्रश्न : स्वर्ग के विमानों की रचना किस प्रकार है ?

उत्तर : स्वर्ग के विमान इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकार के हैं। इन्द्रक विमान मध्य में रहता है, श्रेणीबद्ध

विमान दिशाओं में स्थित हैं और प्रकीर्णक विमान श्रेणीबद्ध विमानों के अन्तराल में बिखरे हुए पुष्पों के सदृश यत्र तत्र स्थित हैं।

इन्द्रक विमान संख्यात योजन विस्तार वाले हैं श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णक विमानों में कुछ संख्यात योजन विस्तार वाले एवं कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

११४. प्रश्न : स्वर्गों में कुल पटलों की संख्या कितनी है ? अथवा स्वर्गोंस्वर्गों में इन्द्रक विमानों की संख्या कितनी है ? एवं कहाँ–कहाँ पर कितने इन्द्रक हैं ?

उत्तर : स्वर्गों में कुल पटलों की संख्या ६३ है। एक–एक पटल में एक–एक ही इन्द्रक विमान होने से इन्द्रक विमानों की संख्या भी ६३ है।

सौधर्म युगल में ३१ इन्द्रक, सानत्कुमार युगल में ७, ब्रह्म युगल में ४, लान्तव युगल में २, शुक्र युगल में १, शतार युगल में १, आनतादि चार कल्पों में ६ इन्द्रक, तीन अधस्तन ग्रैवेयकों में ३ इन्द्रक, तीन मध्यम ग्रैवेयकों में ३ इन्द्रक तीन उपरिम ग्रैवेयकों में ३ इन्द्रक, नव अनुदिशों में एक और पाँच अनुत्तरों में एक इन्द्रक विमान है।

११५. **प्रश्न : श्रेणीबद्ध विमानों के अवस्थान का स्वरूप कैसा है ?**

उत्तर : मानुष क्षेत्र प्रमाण विस्तार वाला अर्थात् ४५,००,००० योजन विस्तार वाले प्रथम ऋतु नामक इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में ६२-६२ श्रेणीबद्ध विमान हैं। इसके आगे दूसरे, तीसरे, चौथे आदि इन्द्रकों में वे उत्तरोत्तर एक-एक कम (६१,६०,५९ आदि) होते हुए अनुदिश और अनुत्तर इन्द्रक विमानों की चारों दिशाओं में मात्र एक-एक ही श्रेणीबद्ध विमान अवशेष रहे हैं। जम्बूद्वीप प्रमाण विस्तार वाला अर्थात् १,००,००० योजन प्रमाण विस्तार वाले अंतिम सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में एक-एक श्रेणीबद्ध विमान है।

११६. **प्रश्न : सब विमान आकाश में किस आधार पर अवस्थित हैं ?**

उत्तर : सौधर्मेशान कल्प के विमान जल के ऊपर अवस्थित हैं। सानत्कुमार, माहेन्द्रकल्पों के विमान वायु के ऊपर स्थित हैं, ब्रह्म स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग तक के आठ कल्पों के विमान जल और वायु के ऊपर अवस्थित हैं और आनतादि से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के सभी विमान शुद्ध आकाश में अवस्थित हैं।

११७. प्रश्न : स्वर्गों में स्थित मानस्तम्भ की क्या विशेषता है ?

उत्तर : इन्द्रों के सभामण्डप के आगे १ योजन विस्तीर्ण, ३६ योजन ऊँचा, पादपीठ से युक्त वज्रमय मानस्तम्भ है। इसका आकार गोल और व्यास १ योजन है। इसमें एक-एक कोस विस्तार वाली बारह धाराएँ हैं। सौधर्मकल्प में स्थित मानस्तम्भ पर स्थापित करण्डों के आभरण भरत क्षेत्र संबंधी तीर्थंकरों के लिए हैं। ऐशान कल्प में स्थित मानस्तम्भ पर स्थापित करण्डों के आभरण ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के लिए हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में स्थित मानस्तम्भ पर स्थापित करण्डों के आभरण पूर्व विदेहक्षेत्र संबंधी और पश्चिम विदेहक्षेत्र संबंधी तीर्थंकरों के लिए हैं। ये सभी करण्ड देवों द्वारा स्थापित एवं पूजित हैं।

११८. प्रश्न : इन्द्र आदि देवों का और देवांगनाओं का उत्पत्ति-स्थान कहाँ पर है ?

उत्तर : मानस्तम्भ के पास इन्द्र का उपपाद गृह ८ योजन लम्बा, चौड़ा और ऊँचा है। उसके मध्य में रत्नों की दो शय्या हैं। आरण स्वर्ग पर्यन्त दक्षिण कल्पों की समस्त देवांगनाएँ सौधर्म कल्प में और अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्तर कल्पों की समस्त देवांगनाएँ ऐशान कल्प में ही उत्पन्न होती हैं। उत्पत्ति के बाद उपरिम कल्पों के देव अपनी-अपनी नियोगिनी देवांगनाओं को

अपने-अपने स्थान पर ले जाते हैं। सौधर्म कल्प में ६,००,००० विमान और ऐशान कल्प में ४,००,००० विमान शुद्ध हैं अर्थात् इनमें मात्र देवागंनाओं की ही उत्पत्ति होती है। इन्हीं कल्पों में क्रम से २६,००,००० और २४,००,००० विमानों में देव और देवागंना दोनों की उत्पत्ति होती है। देवियाँ मूल शरीर के साथ ही नियोगी देवों के साथ जाती हैं।

११६. प्रश्न : देवों की उत्पत्ति का स्वरूप क्या है ? उत्पन्न होने के अनन्तर क्या विशेष कार्य होता है ? देव सत्कार्य रूप कौनसी क्रियायें करते हैं

उत्तर : जिस प्रकार पूर्वांचल पर सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार देव सुखरूप शय्या पर जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त में छह पर्याप्तियों को पूर्णकर, सुगन्धित सुखरूप स्पर्श से युक्त एवं पवित्र शरीर को धारण कर लेते हैं।

नवीन देव के उत्पाद को जानकर अन्य देव आनन्द रूप बाजों के, 'जय जय' के एवं अनेक स्तुतियों के शब्द करते हैं, उन शब्दों को सुनकर प्राप्त हुए वैभव और अपने परिवार को देखकर तथा अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म को ज्ञात कर वे नवीन देव धर्म की प्रशंसा करते हैं तथा सरोवर में स्नान करने के बाद पट्ट रूप अभिषेक एवं अलंकारों को प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि देव स्वयं

जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक-पूजन करते हैं तथ मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों के द्वारा संबोधे जाने के उपरान्त "ये कुलदेवता हैं" ऐसा मानकर जिन-पूजन करते हैं। ये सभी देव सुख-सागर में निमग्न होने के कारण अपने व्यतीत हुए काल को नहीं जानते।

कल्पवासीदेव तीर्थंकरों की महापूजा और उनके पंचकल्याणक महोत्सवों में जाते हैं, किन्तु अहमिन्द्र देव तो अपने ही स्थान पर स्थित रहकर मणिमय मुकुटों पर अपने हाथ रखकर नमस्कार करते हैं। गर्भ और जन्मादि कल्याणकों में देवों के उत्तर शरीर जाते हैं। उनके मूल शरीर तो सुख-पूर्वक जन्मस्थानों में स्थित रहते हैं।

१२०. प्रश्न : इन्द्रों के भवनों के सामने क्या होता है ?

उत्तर : समस्त इन्द्र-प्रासादों के आगे न्यग्रोध वृक्ष होते हैं। इनमें एक-एक वृक्ष पृथ्वी स्वरूप और जम्बू वृक्ष के सदृश होता है।

इसके मूल में प्रत्येक दिशा में एक-एक जिनेन्द्र प्रतिमा होती है, जिसके चरणों में इन्द्र आदिक प्रणाम करते हैं तथा जो स्मरण मात्र से ही पाप को हरने वाली है।

१२१. प्रश्न : देवों के शरीर में क्या विशेषता होती है ?

उत्तर : देवों के शरीर में न नख, केश और रोम होते हैं, न

चमड़ा और मांस होता है, न रुधिर और चर्बी होती है, न हड्डियाँ होती हैं, न मल-मूत्र होता है और न नसें ही होती हैं। वे पुण्य कर्म के प्रभाव से और अतिशय रूप दिव्य बन्ध होने के कारण उत्तम वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ग्रहण करते हैं।

१२२. प्रश्न : स्वर्गों में प्रवीचार-मैथुन का क्या क्रम है ?

उत्तर : भवनत्रिक से लेकर ऐशान स्वर्ग तक देव अपनी देवागंनाओं के साथ शरीर से प्रवीचार करते हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्गों के देव देवागंनाओं के स्पर्श मात्र से, उसके ऊपर चार स्वर्गों के देव-देवागंनाओं के रूपावलोकन मात्र से, उसके ऊपर चार स्वर्गों के देव-देवागंनाओं के गीतादि शब्दों को सुनने मात्र से, आनतादि चार स्वर्गों के देव मन में देवागना का विचार करने मात्र से काम-वेदना से रहित हो जाते हैं। इसके आगे नव ग्रैवेयकों से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के सभी अहमिन्द्र देव प्रवीचार रहित होते हैं।

११३. प्रश्न : वैमानिक देवों के अवधिज्ञान का विषयक्षेत्र कितना है एवं उनकी विक्रियाशक्ति कितनी है ?

उत्तर : सौधर्म ऐशान कल्प के देव अपने अवधिज्ञान से नरक को प्रथम पृथ्वी पर्यन्त, सानात्कुमार-माहेन्द्र कल्प के देव दूसरी पृथ्वी पर्यन्त, ब्रह्मादि चार कल्पों के देव तृतीय पृथ्वी पर्यन्त, शुक्र आदि चार कल्पों के देव चतुर्थ पृथ्वी पर्यन्त, आनतादि चार कल्पों के

देव पाँचवीं पृथ्वी पर्यन्त, नौ ग्रैवेयकवासी देव छठी पृथ्वी पर्यन्त और अनुदिश एवं अनुत्तरवासी देव सम्पूर्ण लोकनाड़ी को देखते हैं।

प्रत्येक कल्प के देव अपने-अपने विमान के ध्वजादण्ड से ऊंपर के क्षेत्र की बात नहीं जान सकते।

वैमानिक देवों के अवधिज्ञान के विषयक्षेत्र प्रमाण ही उनकी विक्रिया शक्ति होती है।

१२४. प्रश्न : वैमानिक देवों में लेश्या का क्या क्रम है ?

उत्तर : सौधर्म और ईशान में पीत लेश्या का मध्यम अंश, सानत्कुमार और माहेन्द्र में पद्म लेश्या के जघन्य अंश सहित पीत लेश्या का उत्कृष्ट अंश, ब्रह्मादिक छह में पद्म लेश्या का मध्यम अंश, शतार युगल में शुक्ल लेश्या के जघन्य अंश सहित पद्म लेश्या का उत्कृष्ट अंश, आनतादि चार एवं नौ ग्रैवेयकों में शुक्ल लेश्या का मध्यम अंश और नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों में शुक्ल लेश्या का उत्कृष्ट अंश होता है। इस प्रकार उपर्युक्त स्वर्ग के देवों में ये लेश्याएँ होती हैं।

१२५. प्रश्न : स्वर्गों में आगे-आगे अधिकता एवं आगे-आगे हीनता किन-किन बातों में होती है ?

उत्तर : आगे-आगे के स्वर्गों में स्थिति-आयु, प्रभाव अर्थात् शाप और अनुग्रह रूप शक्ति, सुख अर्थात् साता वेदनीय कर्म के उदय से इष्ट विषयों का अनुभव, द्युति अर्थात् शरीर, वस्त्र, आभूषण आदि की कांति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिज्ञान का विषय ये प्रत्येक अधिक-अधिक होते हैं।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान ऊपर-ऊपर के देवों में हीन-हीन होते हैं।

१२६. प्रश्न : स्वर्गों में देवों के शरीर की अवगाहना कितनी होती है ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में देवों की अवगाहना ७ हाथ, सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में ६ हाथ, ब्रह्मादि चार स्वर्ग में ५ हाथ, शुक्रादि चार स्वर्ग में ४ हाथ, आनत-प्राणत स्वर्ग में ३ $\frac{१}{२}$ हाथ, आरण-अच्युत स्वर्ग में ३ हाथ, अधो ग्रैवेयक में २ $\frac{१}{२}$ हाथ, मध्यम ग्रैवेयक में २ हाथ, उपरिम ग्रैवेयक और नौ अनुदिशों में १ $\frac{१}{२}$ हाथ और अनुत्तर विमान के देवों की अवगाहना १ हाथ प्रमाण होती है।

१२७. प्रश्न : वैमानिक देवों में आहार और श्वासोच्छ्वास का क्या नियम है ?

उत्तर : वैमानिक देवों में जितने सागर की आयु हो उतने हजार

वर्षों में आहार की इच्छा होती है और उतने ही पक्षों में श्वासोच्छ्वास होता है।

१२८. प्रश्न : वैमानिक देवों की आयु कितनी है ?

उत्तर : सौधर्म युगल में देवों की उत्कृष्ट आयु २ सागर से कुछ अधिक, सानत्कुमार युगल में ७ सागर से कुछ अधिक, ब्रह्म युगल में १० सागर से कुछ अधिक, लान्तव युगल में १४ सागर से कुछ अधिक, शुक्र युगल में १६ सागर से कुछ अधिक, शतार युगल में १८ सागर से कुछ अधिक, आनत युगल में २० सागर, आरण युगल में २२ सागर प्रमाण आयु है। प्रथमादि नौ ग्रैवेयकों में देवों की आयु क्रमशः २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ सागरोपम प्रमाण है। नौ अनुदिशों में ३२ सागरोपम और पाँच अनुत्तरों में ३३ सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। यहाँ शतार-सहस्रार स्वर्ग तक जो कुछ अधिक का कथन है वह घातायुष्क देवों की अपेक्षा है।

सौधर्म युगल की जघन्य आयु एक पल्य प्रमाण होती है, इससे आगे नीचे-नीचे के स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु ऊपर-ऊपर के स्वर्ग की जघन्य आयु होती है। सर्वार्थसिद्धि' के देवों में जघन्य आयु नहीं

सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु पल्य के असंख्यातवें भाग कम ३३ सागर है, ऐसा भी कितने आचार्य कहते हैं। (लोकविभाग अथवा दसम विभाग) श्लोक २३४, पृष्ठ– २०२, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।)

होती है। सबकी आयु ३३ सागर ही होती है। देवांगनाओं की जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य एवं उत्कृष्ट आयु ५५ पल्य होती है।

१२९. प्रश्न : घातायुष्क किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अधिक स्थिति बाँधकर पीछे संक्लेश परिणामों के कारण अधस्तन स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं, उन्हें घातायुष्क कहते हैं। ऐसे देवों की उत्पत्ति शतार-सहस्रार स्वर्ग तक ही होती है, आगे के स्वर्गों में इनकी उत्पत्ति नहीं होती है। अतः कुछ अधिक का सम्बन्ध शतार-सहस्रार स्वर्ग तक ही होती है।

१३०. प्रश्न : भवनत्रिक देवों में घातायुष्क की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर : किसी मनुष्य ने अपनी संयम अवस्था में देवायुबन्ध किया। पीछे उसने संक्लेश परिणामों के निमित्त से संयम की विराधना कर दी और इसलिए अपवर्तन घात के द्वारा आयु का घात भी कर दिया। संयम की विराधना कर देने पर भी यदि वह सम्यग्दृष्टि है, तो मर कर जिस कल्प में उत्पन्न होगा, वहाँ की साधारणतः निश्चित आयु से अन्तर्मुहूर्त कम अर्ध सागरोपम प्रमाण अधिक आयु का धारक होगा।

कल्पना कीजिए किसी मनुष्य ने संयम अवस्था में अच्युत कल्प में संभव बाईस सागर प्रमाण आयु का बन्ध किया। पीछे

संयम की विराधना और बाँधी हुयी आयु की अपवर्तना कर असंयत सम्यग्दृष्टि हो गया। पीछे मरकर यदि सहस्रार कल्प में उत्पन्न हुआ तो वहाँ की साधारण आयु जो अट्ठारह सागर की है, उससे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि देव की आयु अन्तर्मुहूर्त कम आधा सागर अधिक होगी। यदि वही पुरुष संयम की विराधना के साथ ही सम्यक्त्व की विराधना कर मिथ्यादृष्टि हो जाता है और पीछे मरण कर उसी सहस्रार कल्प में उत्पन्न होता है, तो उसकी आयु वहाँ की निश्चित अट्ठारह सागर की आयु से पल्य के असंख्यातवें भाग से अधिक होगी। ऐसे जीव को घातायुष्क मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

१३१. प्रश्न : लौकान्तिक देवों के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ? वे कहाँ निवास करते हैं ?

उत्तर : लौकान्तिक देवों के ८ भेद हैं

१. सारस्वत, २. आदित्य, ३. वह्नि, ४. अरुण, ५. गर्दतोय, ६. तुषित, ७. अव्याबाध और ८. अरिष्ट।

ब्रह्मलोक के अन्त में ऐशानादि आठ दिशाओं में गोलाकार प्रकीर्णक विमानों में क्रमशः आठ लौकान्तिक देव निवास करते हैं।

१३२. प्रश्न : लौकान्तिक देवों की क्या विशेषता है ?

उत्तर : लौकान्तिक देव आपस में समान अर्थात् ऋद्धि आदि की हीनाधिकता से रहित, विषयों से विरक्त, अनुप्रेक्षाओं में दत्तचित्त, चौदह, पूर्वधारी और निष्क्रमण कल्याणक के समय तीर्थंकरों को प्रतिबोध देने में तत्पर तथा एक भवावतारी होते हैं।

१३३. प्रश्न : देवों में एक भवावतारी कौन-कौन हैं ?

उत्तर : सौधर्म इन्द्र, उसी की शची नाम की देवांगना, उसी के सोमादि चार लोकपाल, सानत्कुमारादि दक्षिणेन्द्र, सर्व लौकान्तिक देव और सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होने वाले सर्व देव अपने-अपने स्थान से च्युत हो मनुष्य भव प्राप्त कर नियम से उसी पर्याय में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

१३४. प्रश्न : वैमानिक देवों में सम्यग्दर्शन का क्या नियम है ?

उत्तर : वैमानिक देवों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक अवस्था में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकते हैं। अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ मरने वाले जीवों की अपेक्षा घटित होता है। देवांगनाओं के अपर्याप्त अवस्था में एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है। पर्याप्त अवस्था में नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन हो सकते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव का उत्पाद नवम ग्रैवेयक तक हो सकता है। अनुदिश और अनुत्तर विमानों में सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं।

१३५. प्रश्न : कौन जीव स्वर्गों में कहाँ तक उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर : असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयमी मनुष्य एवं तिर्यञ्च सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं।[१] जो द्रव्य से निर्ग्रंथ मुद्रा के धारक और भाव से मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि एवं देशसंयमी हैं, वे अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि महाव्रती सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त, सम्यग्दृष्टि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यञ्च सौधर्मैशान स्वर्ग पर्यन्त और मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यञ्च एवं तापसी साधु उत्कृष्टता से भवनत्रिक पर्यन्त ही उत्पन्न होते हैं। चरक और परिव्राजक संन्यासी ब्रह्म कल्प पर्यन्त और आजीवक साधु अच्युत कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। अन्य लिंगियों का उत्पाद १६वें स्वर्ग से आगे नहीं होता है। स्त्रियों का उत्पाद १६वें स्वर्ग तक हो सकता है।

१३६. प्रश्न : देवायु-बन्ध के परिणाम क्या-क्या हैं ?

उत्तर : शम, दम, यम और नियम आदि से युक्त, मन-वचन और काय को वश में रखने वाले, निर्ममत्व परिणाम वाले तथा जो आरम्भ आदि से रहित होते हैं वे साधु, इन्द्र आदि की आयु अथवा पाँच अनुत्तरों में ले जाने वाली महर्द्धिक देवों की आयु

---

१. त्रिलोकसार, पृ.– ४६६।

बाँधते हैं। सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् तप से युक्त, मार्दवादि गुणों से युक्त, तीन गारव और तीन शल्यों से रहित, ईर्ष्या, मात्सर्यभाव, भय और लोभ से वशीभूत होकर वर्तन नहीं करने वाले, सुख-दुःख और मित्र-शत्रु में समता भाव रखने वाले, शरीर से निरपेक्ष, अत्यन्त वैराग्य भाव से युक्त, रागादि दोषों से रहित, मूल एवं उत्तर गुणों का प्रमाद रहित पालन करने वाले श्रमण महा-ऋद्धि धारक देवों की आयु बाँधते हैं।

उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को चारों प्रकार का दान देने वाले, लज्जा और मर्यादा रूप मध्यम भावों से युक्त जीव मध्यम ऋद्धि धारक देवों की आयु बाँधते हैं। अनादि से प्रकटित संज्ञा एवं अज्ञान के कारण अपने चारित्र में अत्यन्त क्लिश्यमान भाव-संयुक्त जीव, दूषित चारित्र वाले, क्रूर, उन्मार्ग में स्थित, निदान भाव सहित और मन्द कषायी जीव अल्पर्द्धिक देवों की आयु बाँधते हैं।

१३७. प्रश्न : कन्दर्प आदि देवों में उत्पत्ति के क्या कारण हैं ?

उत्तर : यहाँ मनुष्य पर्याय में जो जीव स्त्रीगमन आदि विटलक्षण को धारण करते हुये कन्दर्प परिणामों से संयुक्त होते हैं, वे अपने योग्य शुभ कर्म के वश से कन्दर्पदेव होकर ईशान कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं, इससे ऊपर नहीं। ये देव ईशान कल्प की जघन्य

आयु से सहित होते हैं। मनुष्य पर्याय में गीतादि से जीविका चलाना है लक्षण जिसका ऐसे कैल्विषिक परिणामों से युक्त नट आदि जो जीव अपने योग्य शुभ कर्म के वश से किल्विष देव होकर लान्तव कल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते हैं, इससे ऊपर नहीं। ये भी अपने उत्पत्ति-क्षेत्र की जघन्यायु से सहित होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य पर्याय में जो जीव पाप-क्रियाओं में, स्वहस्त-व्यापार है लक्षण जिसका ऐसी आभियोग्य भवना से युक्त अर्थात् नाई, धोवी एवं दास आदि के करने योग्य कार्यों को स्वहस्त से करते हुए उन्हीं परिणामों से युक्त हैं, वे जीव अपने योग्य शुभकर्म के वश से आभियोग्य देव होकर अच्युत कल्प पर्यन्त उत्पन्न होते हैं, इससे ऊपर नहीं। इनकी भी अपने उत्पत्ति-क्षेत्र की जघन्यायु ही होती है।

१३८. प्रश्न : वैमानिक देवों की कितनी शक्ति होती है ?

उत्तर : एक पल्योपम प्रमाण आयु वाला देव पृथ्वी के छह खण्डों को उखाड़ने में और उनमें स्थित मनुष्यों और तिर्यञ्चों को मारने अथवा पोषण करने में समर्थ है।

सागरोपम प्रमाण काल पर्यन्त जीवित रहने वाला देव जम्बूद्वीप को पलटने में और उसमें स्थित मनुष्यों और तिर्यञ्चों को मारने अथवा पोषने में समर्थ है।

१३९. प्रश्न : सिद्धों का सुख कैसा होता है ?

उत्तर : संसार में चक्रवर्ती के सुख से भोगभूमि स्थित जीवों का सुख अनन्तगुणा है। इनसे धरणेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है। धरणेन्द्र से देवेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है। देवेन्द्र से अहमिन्द्रों का सुख अनन्तगुणा है। इन सबके त्रिकालवर्ती सुख से भी सिद्धों का एक क्षण का सुख अनन्तगुणा है अर्थात् उनके सुख की तुलना नहीं है।

❑❑❑

चतुर्थाधिकार

तिर्यग्लोक अधिकार

१४०. प्रश्न : स्थावर लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्म एवं अधर्म द्रव्य से सम्बन्धित जितने आकाश में जीव और पुद्गलों का अवागमन रहता है, उतना अर्थात् ३४३ घन राजू प्रमाण स्थावर लोक है।

१४१. प्रश्न : तिर्यग्लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर : मन्दर पर्वत के मूल से १,००,००० योजन ऊँचाई रूप राजू प्रतर अर्थात् एक राजू लम्बे-चौड़े क्षेत्र में तियग्-त्रसलोक स्थित है अथवा समान धरातल पर स्थित चारों ओर विस्तृत असंख्यात् द्वीप-समुद्रों का समूह तिर्यग्लोक कहलाता है। स्थावरों के साथ त्रस जीव भी इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं।

१४२. प्रश्न : असंख्यात् द्वीप-समुद्रों की संख्या कितनी है और उनकी अवस्थिति किस प्रकार है ?

उत्तर : पच्चीस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्यों के रोमों के प्रमाण द्वीप एवं समुद्र दोनों की संख्या है। इसकी आधी अर्थात् १२$\frac{1}{2}$ कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्य प्रमाण द्वीपों की और उतनी ही समुद्रों की संख्या है।

चित्रा पृथ्वी के बहुमध्य भाग में एक राजू लम्बे-चौड़े क्षेत्र के भीतर एक-एक को चारों ओर से घेरे हुए गोलाकार द्वीप एवं समुद्र अवस्थित हैं। इनमें सबसे पहले जम्बूद्वीप नामक द्वीप और अन्त में स्वयम्भूरमण नामक समुद्र स्थित है। मध्य में असंख्यात् द्वीप-समुद्र हैं। सब समुद्र वज्रापृथ्वी पर स्थित हैं और सब द्वीप चित्रा पृथ्वी पर स्थित हैं।

१४३. प्रश्न : तिर्यग्लोक के प्रारम्भिक कुछ द्वीप-समुद्रों के नाम क्या हैं ? समुद्रों के जल आदिक के स्वाद की क्या विशेषता है ?

उत्तर : प्रथम जम्बू द्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवरद्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवरद्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप; घृतवर समुद्र, क्षौद्रवरद्वीप, क्षौद्रवर समुद्र, नन्दीश्वरद्वीप, नन्दीश्वर समुद्र .... कुण्डलवरद्वीप, कुण्डलवर समुद्र .... अन्तिम स्वयम्भूरमण द्वीप एवं स्वयम्भूरमण समुद्र है। वारुणीवर, लवणाब्धि, घृतवर और क्षीरवर ये चार समुद्र अपने-अपने नामानुसार रस वाले, कालोद, पुष्करवर और स्वयम्भूरमण ये तीन समुद्र जल रस के स्वाभाविक स्वाद वाले (उसमें पुष्करवर समुद्र में मधु सदृश जल है) और शेष समुद्र इक्षुरस सदृश हैं।

कर्मभूमि से सम्बद्ध लवणोद, कालोद और अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्र में ही जलचर जीव हैं। शेष समुद्रों में नहीं हैं।

१४४. प्रश्न : द्वीप-समुद्रों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। इसके आगे लवण समुद्र से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त द्वीप-समुद्रों के विस्तार क्रमशः दुगुने-दुगुने हैं।

१४५. प्रश्न : जम्बू-द्वीप की परिधि कितनी है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप की स्थूल परिधि ३ लाख योजन और सूक्ष्म परिधि ३,१६,२२७ योजन, ३ कोस, १२८ धनुष और साधिक १३ $\frac{१}{२}$ अंगुल है।

१४६. प्रश्न : परिधि निकालने की विधि क्या है ?

उत्तर : विस्तार का जितना प्रमाण है उसका वर्ग कर दस गुणा करने के पश्चात् उसका वर्गमूल निकालने से परिधि का प्रमाण प्राप्त होता है।

१४७. प्रश्न : नन्दीश्वर द्वीप में ५२ अकृत्रिम चैत्यालय किस प्रकार हैं ?

उत्तर : एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन प्रमाण विस्तार वाले अष्टम नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं में एक-एक

अंजनगिरि है। यह पर्वत १००० योजन गहरा, ८४,००० योजन ऊँचा और ८४,००० योजन प्रमाण विस्तारयुक्त समवृत्त है। अञ्जनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक लाख योजन विस्तार वाली चार-चार वापिकाएँ हैं। वापियों के बहुमध्य भाग में दही के सदृश वर्णवाला १००० योजन गहरा, १०,००० योजन ऊँचा और १०,००० योजन प्रमाण विस्तार वाला गोल एक-एक दधिमुख पर्वत है। वापियों के दोनों बाह्य कोनों पर दो-दो रतिकर पर्वत हैं, जो २५० योजन गहरे, १००० योजन ऊँचे और १००० योजन विस्तार वाले गोल हैं। इस तरह चार अंजनगिरि, सोलह दधिमुख और बत्तीस रतिकर मिलकर ५२ पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वत पर १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े एवं ७५ योजन ऊँचे एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय हैं जिनमें अष्ट प्रतिहार्य युक्त १०८-१०८ प्रतिमाएँ हैं।

आष्टाह्निक पर्व के समय प्रत्येक दिशा के १३-१३ चैत्यालयों में चारों निकाय के इन्द्र अपने परिवार के साथ अनवरत् ६४ प्रहर तक दो-दो प्रहर के क्रम से महापूजा करते हैं।[1]

१४८. प्रश्न : नन्दीश्वर द्वीप के आगे अन्य किन-किन द्वीपों में अकृतित्रम चैत्यालय हैं ?

---

१. त्रिलोकसार गाथा, ९६६-९७८

उत्तर : ग्यारहवें कुण्डलवर द्वीप के बहुमध्य भाग में कुण्डलगिरि है, जिसके शिखर पर पूर्वादि दिशाओं में चार-चार कूटों सहित एक-एक सिद्धकूट है। तेरहवें रुचकवर द्वीप के बहुमध्य भाग में स्वर्णमय रुचकवर पर्वत है। रुचकगिरि के ऊपर पूर्वादि चार दिशाओं में पृथक्-पृथक् आठ-आठ कूट हैं, जिसके अभ्यन्तर की ओर चार दिशाओं में चार कूट हैं। उन चार कूटों की अभ्यन्तर चार दिशाओं में पुनः चार कूट हैं और सर्व अभ्यन्तर चार दिशाओं में चार जिनेन्द्र कूट हैं। इन सबको मिलाने से रुचकगिरि पर कुल ४४ कूट हैं। इस प्रकार कुण्डलगिरि पर ४ एवं रुचकगिरि पर ४ अकृत्रिम चैत्यालय हैं।

१४९. प्रश्न : रुचकपर्वत स्थित कूटों में कौन-कौन देवियाँ कहाँ पर निवास करती हैं तथा उसकी विशेषता क्या है ?

उत्तर : रुचक पर्वत के ऊपर पूर्व दिशा के आठ कूटों में आठ देवकुमारियाँ निवास करती हैं। ये भृंगार धारण कर जिन-माता की सेवा करती हैं। दक्षिण आदि दिशाओं के आठ-आठ कूटों में निवास करने वाली आठ-आठ देवकुमारियाँ हाथ में दर्पण लेकर, तीन छत्र धारण कर एवं चँवर धारण कर क्रमशः जिन-माता की सेवा करती हैं। अभ्यन्तर कूटों की पूर्वादिक चार दिशाओं में निवास करने वाली चार देवकुमारियाँ तीर्थंकर के जन्म-काल में

सर्व दिशाओं को निर्मल करती हैं। इनके अभ्यन्तर कूटों की पूर्वादिक चार दिशाओं में निवास करने वाली चार देवकुमारियाँ तीर्थंकर के जन्म-समय में जातकर्म करने में कुशल रहती हैं।

१५०. प्रश्न : तिर्यञ्चों के कितने भेद हैं ?

उत्तर : एकेन्द्रियों के २४ भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय के २, त्रीन्द्रिय के २, चतरिन्द्रिय के २ एवं पञ्चेन्द्रिय के चार इस प्रकार सब मिलाकर तिर्यञ्चों के ३४ भेद हैं। एकेन्द्रियों में पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक और वायुकायिक के चार-चार (बादर पर्याप्त, बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, सूक्ष्म अपर्याप्त) यानि कुल १६ भेद होते हैं। इनमें वनस्पति कायिक के ८ भेद मिलाने से कुल २४ होते हैं। वनस्पतिकायिक के ८ भेद इस प्रकार हैं- वनस्पतिकायिक साधारण बादर पर्याप्त, साधारण बादर अपर्याप्त, साधारण सूक्ष्म पर्याप्त, साधारण सूक्ष्म अपर्याप्त, प्रत्येक प्रतिष्ठित पर्याप्त, प्रत्येक प्रतिष्ठित अपर्याप्त, प्रत्येक अप्रतिष्ठित पर्याप्त और प्रत्येक अप्रतिष्ठित अपर्याप्त।

१५१. प्रश्न : तिर्यञ्चों की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है ?

उत्तर : शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु १२,००० वर्ष, खर पृथ्वीकायिक जीवों की २२,००० वर्ष, जलकायिक जीवों की ७,००० वर्ष, तेजस्कायिक जीवों की ३ दिन, वायुकायिक जीवों की

३,००० वर्ष और वनस्पतिकायिक जीवों की १०,००० वर्ष प्रमाण है।

द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु १२ वर्ष, त्रीन्द्रिय जीवों की ४९ दिन, चतुरिन्द्रिय जीवों की ६ मास और पंचेन्द्रिय सरीसृपों की उत्कृष्ट आयु ९ पूर्वांग प्रमाण होती है। पक्षियों की उत्कृष्ट आयु ७२,००० वर्ष, सर्पों की ४२,००० वर्ष एवं शेष कर्मभूमिज तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण होती है।

उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भोगभूमिज तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य प्रमाण होती है।

१५२. प्रश्न : तिर्यंचों की जघन्य आयु कितनी होती है ?

उत्तर : कर्मभूमिज तिर्यंचों की जघन्य आयु उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण होती है।

जघन्य भोगभूमिज तिर्यंचों की जघन्य आयु एक समय अधिक पूर्वकोटि, मध्यम भोगभूमिजों की एक समय अधिक एक पल्य एवं उत्कृष्ट भोगभूमिजों की एक समय अधिक दो पल्य होती है। मध्यम आयु के अनेक भेद हैं।

१५३. प्रश्न : तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एवं उत्कृष्ट अवगाहना कहाँ-कहाँ और कब-कब प्राप्त होती है ?

उत्तर : उपर्युक्त उत्कृष्ट आयु पर्वोपर विदेह क्षेत्रों में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के तथा स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य कर्मभूमि-भाग में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के ही सर्वकाल पायी जाती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के भीतर चतुर्थकाल के प्रथम भाग में भी किन्हीं तिर्यंचों के उक्त उत्कृष्ट आयु पायी जाती है इस प्रकार स्वयम्प्रभ पर्वत के बाह्य भाग की कर्मभूमि में ही उत्कृष्ट अवगाहना वाले त्रस जीव पाये जाते हैं।

१५४. प्रश्न : तिर्यंच-आयु के बन्ध के क्या कारण हैं ?

उत्तर : मायाचारी करना, धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, मरण के समय नील व कापोत लेश्या और आर्त्तध्यान का होना आदि तिर्यंच आयु के बन्ध के कारण हैं।

पृथ्वी की रेखा के समान रोषादि होना, गूढ़ और जानने में न आवे ऐसे हृदय का परिणाम होना, शल्य युक्त होना, जातिकुल में दूषण लगाना, विसंवाद में रुचि होना, सद्गुणलोप और असद्गुण का ख्यापन करना आदि तिर्यंच आयु के आस्रव के कारण हैं।

जो पापी जिनलिंग को ग्रहण करके संयम एवं सम्यक्त्व भाव छोड़ देते हैं और पश्चात् मायाचार में प्रवृत्त होकर चारित्र को नष्ट कर देते हैं तथा जो कोई मूर्ख मनुष्य कुलिंगियों को नाना

प्रकार के दान देते हैं था उनके भेष को धारण करते हैं, वे भोगभूमि में तिर्यंच होते हैं।

१५५. प्रश्न : तिर्यंचों में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : संज्ञी (पर्याप्त तिर्यंच) जीवों को छोड़कर शेष तैंतीस प्रकार के तिर्यंच जीवों के सब काल में एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है।

पाँच मेरु सम्बन्धी भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खण्डों में, पाँच विदेह क्षेत्र सम्बन्धी १६० आर्यखण्डों में, विद्याधर श्रेणियों में और स्वयम्प्रभ पर्वत के बाह्य भाग में निवास करने वाले तिर्यंचों में एक से लेकर पाँच गुणस्थान तक पाये जाते हैं।

सर्व भोगभूमिज तिर्यंचों में एक से लेकर चार गुणस्थान पाये जाते हैं एवं सब म्लेच्छखण्डों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही पाया जाता है।

१५६. प्रश्न : तिर्यंचों में जघन्य एवं उत्कृष्ट अवगाहना कितनी और किन जीवों के पाई जाती है ?

उत्तर : ऋजुगति के द्वारा उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की उत्पत्ति से तीसरे समय में शरीर की जघन्य अवगाहना होती है। इसका प्रमाण घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग है।

उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूरमण समुद्र के मध्य में होने वाले महामत्स्य की होती है। इसका प्रमाण १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौडा एवं २५० योजन मोटा है।

१५७. प्रश्न : एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट एवं जघन्य अवगाहना कितनी और किन जीवों के पाई जाती है ?

उत्तर : एकेन्द्रियों में सबसे उत्कृष्ट कमल की कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियों में शंख की १२ योजन, त्रीन्द्रियों में ग्रैष्मी (चींटी) ३ कोस, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर की एक योजन एवं पंचेन्द्रियों में महामत्स्य की एक हजार योजन लम्बी शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना है।

एकेन्द्रियों में सबसे जघन्य सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव की घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, द्वीन्द्रियों में अनुंधरी की धनांगुल की संख्यातवें भाग प्रमाण, त्रीन्द्रियों में कुन्थु की द्वीन्द्रियों से संख्यातगुणी, चतुरिन्द्रियों में काणमक्षिका की त्रीन्द्रियों से संख्यातगुणी, पंचेन्द्रियों में सिक्थमत्स्य की चतुरिन्द्रियों से संख्यातगुणी जघन्य अवगाहना पाई जाती है।

१५८. प्रश्न : तिर्यंचों में सम्यक्त्व-ग्रहण के कौन-कौन से कारण है ?

उत्तर : कितने ही तिर्यंच जीव प्रतिबोध से, कितने ही सुख-दुःख

देखकर, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्र-महिमा के दर्शन से एवं कितने ही तिर्यंच जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं।

१५६. प्रश्न : तिर्यंच जीवों की गति-आगति की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर : पृथ्वीकायिक जीव आदि से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यन्त स्थावर और सर्व विकलेन्द्रिय जीव कर्मभूमिज मनुष्य एवं तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव अनन्तर जन्म में तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते हैं।

संज्ञी पर्याप्त और असंज्ञी पर्याप्त जीवों को छोड़कर शेष ३२ प्रकार के तिर्यंच जीव भोगभूमि में, देव और नारकियों में कदापि उत्पन्न नहीं होते हैं।

असंज्ञी जीव प्रथम नरक के नारकियों में, भवनत्रिक में और समस्त कर्मभूमियों के मनुष्यों एवं तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं। शेष जीव घनलोक प्रमाण क्षेत्र में सर्वत्र उत्पन्न होते हैं।

संख्यात् वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज संज्ञी तिर्यंच जीव अच्युत स्वर्ग पर्यन्त देवों में तथा मनुष्य, तिर्यंच और नारकियों में भी उत्पन्न होते हैं, किन्तु असंख्यात् वर्ष की आयु वाले भोगभूमिज संज्ञी जीव ईशान कल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ३४

भेदों से संयुक्त तिर्यंच जीव निश्चय ही अनन्तर जन्म में शलाका पुरुष नहीं होते हैं, किन्तु वे अनन्तर जन्म में कदाचित् मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

१६०. प्रश्न : त्रस जीव कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं ?

उत्तर : मारणान्तिक, उपपाद एवं समुद्घात अवस्था को छोड़कर त्रस जीव त्रसनाली में ही पाये जाते हैं। मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त ही पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य भाग से लेकर अंतिम स्वयम्भूरमण द्वीप में स्थित स्वयम्प्रभ पर्वत तक असंख्यात् द्वीप-समुद्रों में सर्व एकेन्द्रिय जीव एवं पंचेन्द्रिय त्रस जीव पाये जाते हैं, किन्तु वहाँ विकलत्रय त्रस जीव एवं पंचेन्द्रिय जलचर जीवों का अभाव है। अंतिम अर्ध द्वीप एवं समुद्र में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंच जीव पाये जाते हैं।

१६१. प्रश्न : लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जगत्श्रेणी के घन प्रमाण अर्थात् ३४३ घन राजू को लोक कहते हैं। ३४३ घन राजू लोक का घनफल है।

१६२. प्रश्न : जगत् श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक प्रदेश चौड़े और सात राजू लम्बे आकाश-प्रदेशों की पंक्ति को 'श्रेणी कहतें हैं।

१६३. प्रश्न : वर्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी संख्या को लेकर, उसी संख्या का परस्पर गुणा करने को वर्ग कहते हैं। जैसे २×२ = ४ इसे कृति भी कहते हैं।

१६४. प्रश्न : घन किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी संख्या को तीन बार रखकर परस्पर गुणा करने को घन कहते हैं। जैसे :- २×२×२ = ८

१६५. प्रश्न : जगत्प्रतर किसे कहते हैं ?

उत्तर : जगत्‌श्रेणी के वर्ग को जगत्प्रतर कहते हैं। यथा-जगत्‌श्रेणी+जगत्‌श्रेणी=जगत्प्रतर

१६६. प्रश्न : राजू किसे कहते हैं ?

उत्तर : जगत्‌श्रेणी के सातवें भाग को राजू कहते हैं। यथा-जगत्‌श्रेणी/७ = राजू।

१६७. प्रश्न : संख्याप्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर : संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त के भेद से संख्याप्रमाण तीन प्रकार का है। संख्यात् एक ही प्रकार का है, किन्तु परीतासंख्यात्, युक्तासंख्यात्, असंख्यातासंख्यात् के भेद से असंख्यात् तीन प्रकार का है तथा परीतानन्त, युक्तानन्त, अनन्तानन्त के

भेद से अनंत भी तीन प्रकार का है। इस प्रकार तीनों के कुल ७ भेद हैं। सातों ही स्थान जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार संख्या प्रमाण के कुल (७ × ३) = २१ भेद होते हैं।

१६८. प्रश्न : उत्सेधाङ्गुल किसे कहते हैं और उससे किस-किस का माप किया जाता है ?

उत्तर : आठ जौ का एक अङ्गुल होता है, वही उत्सेधाङ्गुल, व्यवहारांगुल या सूच्यंगुल कहलाता है। इस उत्सेधाङ्गुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण और देवों के निवास स्थान व नगरादि का प्रमाण मापा जाता है।

१६९. प्रश्न : प्रमाणाङ्गुल किसे कहते हैं और उससे किस-किस का माप किया जाता है ?

उत्तर : पाँच सौ उत्सेधांगुलों का एक प्रमाणांगुल होता है। यह प्रमाणांगुल अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती का अंगुल है। इस प्रमाणांगुल से द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, सरोवर, कमल तथा भरतादिक क्षेत्रों का प्रमाण मापा जाता है।

१७०. प्रश्न : आत्मांगुल किसे कहते हैं और उससे किस-किस का माप किया जाता है ?

उत्तर : भरतादिक क्षेत्रों में जिस-जिस काल में जो-जो मनुष्य हुआ करते हैं, उस-उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल का नाम आत्मांगुल है। इस अंगुल से झारी, कलश, सिंहासन, छत्र, चमर, मनुष्यों के निवासस्थान, नगर व उद्यानादि का प्रमाण मापा जाता है।

१७१. प्रश्न : प्रतरांगुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : अङ्गुल के वर्ग को प्रतरांगुल कहते हैं, जिसमें लम्बाई एवं चौड़ाई विवक्षित रहती है।

१७२. प्रश्न : घनांगुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : अंगुल के घन को घनांगुल कहते हैं, जिसमें लम्बाई, चौड़ाई एवं मोटाई विवक्षित रहती है।

१७३. प्रश्न : कृतयुग्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस राशि में ४ का भाग देने पर कुछ भी शेष न रहे, उसे कृतयुग्म कहते हैं। जैसे- १६ में ४ का भाग देने पर कुछ भी शेष नहीं रहता।

१७४. प्रश्न : बादरयुग्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस राशि में ४ का भाग देने पर २ शेष रहे, उसे बादरयुग्म कहते हैं। १४ में ४ का भाग देने पर २ शेष रहते हैं।

१७५. प्रश्न : कलि-ओज किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस राशि में ४ का भाग देने पर १ शेष रहे, उसे कलि-ओज कहते हैं। जैसे १७ में ४ का भाग देने पर १ शेष रहता है।

१७६. प्रश्न : तेज-ओज किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस राशि में ४ का भाग देने पर ३ शेष रहें, उसे तेज ओज कहते हैं। जैसे- १५ में ४ का भाग देने पर ३ शेष रहते हैं।

१७७. प्रश्न : वर्गशलाका किसे कहते हैं ?

उत्तर : राशि के जितने बार वर्ग करने से राशि उत्पन्न होती है, उतने बारों को वर्गशलाका कहते हैं।

१७८. प्रश्न : अर्धच्छेद किसे कहते हैं ?

उत्तर : राशि के जितनी बार अर्ध करते-करते एक अंक रह जाए, वे बार अर्धच्छेद कहलाते हैं।

१७९. प्रश्न : उपमा प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर : पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत्श्रेणी, जगत्प्रतर तथा लोक इस प्रकार उपमा प्रमाण ८ प्रकार का है।

१८०. प्रश्न : पल्य के कितने भेद हैं ? उनसे किनका माप किया जाता है ?

उत्तर : व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य और अद्धापल्य के भेद से पल्य तीन प्रकार के होते हैं। व्यवहारपल्य से संख्या का, उद्धार पल्य से द्वीप समुद्रों का और अद्धापल्य से कर्मस्थिति का माप किया जाता है।

१८१. प्रश्न : पल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्तम भोगभूमि में जन्म लेने वाले भेड़ के जन्म से सात दिन के भीतर तक के रोमों को ग्रहण कर उनके अग्र भाग के बराबर खण्ड कर, संचित किए हुए करोड़ों रोमों से एक योजन व्यास एवं एक योजन गहराई वाले विशाल कुण्ड को भर दो। ऐसे विशाल कुण्ड में भरे हुए रोमों का जितना प्रमाण है, उसे पल्य कहते हैं।

१८२. प्रश्न : व्यवहार पल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : कुण्ड में भरे हुए रोमों में से प्रत्येक सौ वर्ष बाद एक-एक रोम के निकालने पर जितने काल में समस्त रोम समाप्त हों, उतने काल के समयों की संख्या ही व्यवहार पल्य के समयों की संख्या है।

१८३. प्रश्न : उद्धार पल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यवहार पल्य की रोम-राशि में से प्रत्येक रोम-खण्डों के, असंख्यात् करोड़ वर्षों के जितने समय हों, उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को (पल्य प्रमाण गड्ढे को) भरकर पुनः एक-एक समय में एक-एक रोमखण्ड को निकालें। इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य (गड्ढा) खाली होता है, उतना काल उद्धार पल्य का काल है। इससे द्वीप-समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है।

१८४. प्रश्न : अद्धापल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : उद्धार-पल्य की रोम-राशि में से प्रत्येक रोमखण्ड के असंख्यात् वर्षों के समय प्रमाण खण्ड करके तीसरे गड्ढे के (पल्य प्रमाण) भरने पर और पहलें के समान एक-एक समय में एक-एक रोम-खण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली होता है, उतने काल को अद्धापल्य कहते हैं। इससे नारकी, मनुष्य और देवों की आयु तथा कर्म-स्थिति का प्रमाण जाना जाता है।

१८५. प्रश्न : सागर के कितने भेद हैं ? उनके लक्षण बतलाइये ?

उत्तर : सागर के तीन भेद हैं।

(१) व्यवहार सागर, (२) उद्धार सागर एवं (३) अद्धा सागर।

दस कोड़ा-कोड़ी व्यवहार पल्यों का एक व्यवहार सागर, दस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्यों का एक उद्धार सागर और दस कोड़ा-कोड़ी अद्धा पल्यों का एक अद्धा सागर होता है।

१८६. प्रश्न : योजन किसे कहते हैं ?

उत्तर : चार हाथ का एक धनुष होता है। दो हजार धनुष का एक कोस होता है एवं चार कोस का एक योजन होता है।

१८७. प्रश्न : मनुष्यलोक एवं तिर्यग्लोक में कितने अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं ?

उत्तर : मनुष्यलोक में ३९८ अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं तथा नन्दीश्वर द्वीप में ५२, कुण्डलगिरि पर ४ और रुचकगिरि पर ४, इस प्रकार तिर्यग्लोक में ६० अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। इस प्रकार मध्यलोक में कुल (३९८+६०)=४५८ अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं।

यथा-

सुदर्शन मेरु के चार वनों में	१६ अकृत्रिम जिनमंदिर
३४ विजयार्ध पर्वतों पर	३४ " "

१६ वक्षार पर्वतों पर	१६ " "
४ गजदन्त पर्वतों पर	४ अकृत्रिम जिनमंदिर
६ कुलाचल पर्वतों पर	६ " "
जम्बू-शाल्मलि २ वृक्षों पर	२ " "
एक मेरु सम्बन्धी- कुल	७८ " "

७८ x ५ = ३९० अकृत्रिम जिन चैत्यालय पाँच मेरु सम्बन्धी हुये।

*** पाँच मेरु सम्बन्धी ३९० अकृत्रिम जिनमंदिर ***

चार इष्वाकार पर्वतों के	४ अकृत्रिम जिन मंदिर
मानुषोत्तर पर्वत के	४
नन्दीश्वर द्वीप के	५२
कुण्डलगिरि के	४
रुचकगिरि के	४
मध्यलोक संबंधी कुल	४५८

१८८. प्रश्न : मनुष्यलोक की स्थिति कहाँ पर है एवं उसका प्रमाण क्या है ?

उत्तर : चित्रा पृथ्वी के ऊपर त्रसनाली के बहुमध्य भाग में

४५,००,००० योजन प्रमाण विस्तार वाला अतिगोल मनुष्यलोक है।

१८६. प्रश्न : जम्बूद्वीप की अवस्थिति कहाँ पर है एवं उसका प्रमाण क्या है ?

उत्तर : मनुष्यक्षेत्र के बहुमध्य भाग में एक लाख (१,००,०००) योजन विस्तार से युक्त, वृत्ताकार जम्बूद्वीप है।

१६०. प्रश्न : जम्बूद्वीप में कितने और कौन–कौन से कुलाचल हैं ? वे कुलाचल कैसे हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में १. हिमवान्, २. महाहिमवान्, ३. निषध, ४. नील, ५. रुक्मि और ६. शिखरी नाम के छह कुलाचल (पर्वत) हैं। ये कुलाचल मणियों से चित्र–विचित्र तट वाले हैं। ऊपर–नीचे और बीच में तुल्य विस्तार वाले हैं। क्रमशः हेम सुवर्ण, अर्जुन–चांदी, तपाये हुये स्वर्ण, नीलमणि, चांदी एवं सुवर्ण सदृश वर्ण वाले हैं। पूर्वापर समुद्र से संलग्न हैं अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं। जम्बूद्वीप का सात क्षेत्रों में विभाजन इन छह कुलाचलों से ही होता है।

१६१. प्रश्न : जम्बूद्वीप में कितने और कौन से क्षेत्र हैं ? उनका विस्तार क्या है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में ७ क्षेत्र हैं : १. भरत, २. हैमवत, ३. हरि, ४. विदेह, ५. रम्यक, ६. हैरण्यवत् और ७. ऐरावत।

भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ भाग अर्थात् ५२६ ६/१९ योजन है। आगे विदेह क्षेत्र तक क्षेत्र से दुगुना कुलाचल और कुलाचल से दुगुना क्षेत्र का विस्तार है। विदेह क्षेत्र से आगे ऐरावत क्षेत्र तक विस्तार आधा-आधा होता गया है।

१६२. प्रश्न : कुलाचलों पर स्थित सरोवरों के क्या नाम हैं ? सरोवरों में स्थित कमल और उन पर स्थित देवियों का सामान्य परिचय क्या है ?

उत्तर : हिमवान् आदि छह कुलाचलों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरिन्, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के सरोवर हैं। पद्म सरोवर १,००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा एवं १० योजन गहरा है। पद्म सरोवर के मध्य में एक योजन विस्तार वाला पृथ्वीकायिक १०११ पत्रों से युक्त कमल है। इसी प्रकार छह कुलाचलों के मध्य में स्थित कमलों पर क्रम से श्री, ह्री धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियाँ रहती हैं। कमलों की कर्णिका पर इन देवियों के भवन बने हुये हैं जो एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और कुछ कम एक कोस ऊँचे तथा सफेद रंग के हैं। मुख्य कमल के अतिरिक्त अन्य कमलों में सामानिक एवं

पारिषद् जाति के देव रहते हैं। इन देवियों की आयु एक पल्य प्रमाण होती है। ये देवियाँ भवनवासिनी हैं। प्रारम्भ की तीन देवियाँ सौधर्मेन्द्र की और अन्त की तीन देवियाँ ऐशानेन्द्र की आज्ञाकारिणी होती हैं। ये देवियाँ गर्भावस्था में तीर्थंकर की माता की सेवा में तत्पर रहती हैं।

सरोवर एवं कमल आदिक का विस्तार विदेह क्षेत्र तक दूना-दूना होता गया है और आगे पुनः आधा-आधा होता गया है।

१६३. प्रश्न : उपर्युक्त सरोवरों से कौन-कौन सी महानदियाँ निकली हैं ?

उत्तर : पद्म सरोवर के पूर्व तोरण-द्वार से गंगा, पश्चिम तोरण-द्वार से सिन्धु एवं उत्तर तोरण-द्वारा से रोहितास्या, महापद्म के दक्षिण तोरण-द्वार से रोहित् और उत्तर- तोरण-द्वार से हरिकान्ता, तिगिञ्छ के दक्षिण तोरण-द्वार से हरित् एवं उत्तर तोरण-द्वार से सीतोदा, केसरिन् के दक्षिण तोरण-द्वार से सीता और उत्तर तोरण-द्वार से नरकान्ता, महापुण्डरीक के दक्षिण तोरण-द्वार से नारी एवं उत्तर तोरण-द्वार से रूप्यकूला और पुण्डरीक ह्रद के दक्षिण तोरण-द्वार से सुवर्णकूला, पूर्व तोरण-द्वार से रक्ता एवं पश्चिम तोरण-द्वार से रक्तोदा नदी निकलती है।

१६४. प्रश्न : महानदियाँ किस-किस क्षेत्र में और किस-किस दिशा में बहती हैं ?

उत्तर : भरत क्षेत्र में गंगा-सिन्धु, हैमवत क्षेत्र में रोहित्-रोहितास्या, हरि क्षेत्र में हरित्-हरिकान्ता, विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा, रम्यक क्षेत्र में नारी-नरकान्ता, हैरण्यवत् क्षेत्र में सुवर्णकूला-रूप्यकूला एवं ऐरावत क्षेत्र में रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं।

इन नदियों के सात युगलों में से प्रत्येक युगल की पहली-पहली नदी पूर्व दिशा में और दूसरी-दूसरी नदी पश्चिम दिशा की ओर बहती है। जैसे- गंगा नदी पूर्व की ओर एवं सिन्धु नदी पश्चिम की ओर बहती है।

१६५. प्रश्न : गंगा, सिन्धु आदि महानदियों की सहायक नदियों का क्या प्रमाण है ?

उत्तर : गंगा, सिन्धु की सहायक नदियाँ १४,००० हैं, रोहित्-रोहितास्या की २८,००० हैं, हरित्-हरिकान्ता की ५६,००० हैं, सीता-सीतोदा की १,१२,००० हैं, नारी-नरकान्ता की ५६,००० हैं, सुवर्णकूला-रूप्यकूला की २८,००० हैं एवं रक्ता-रक्तोदा की १४,००० सहायक नदियाँ हैं।

१६६. प्रश्न : भरत क्षेत्र के कितने खण्ड हैं ?

उत्तर : भरत क्षेत्र के मध्य में पूर्व-पश्चिम लम्बा विजयार्ध पर्वत है जिससे इस क्षेत्र के दो खण्ड हो जाते हैं तथा पद्म -द्रह से निकलने वाली गंगा-सिन्धु नदियाँ उत्तर से दक्षिण की ओर आती हैं, इनसे इस भरतक्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। दक्षिण-दिशा का बीच का आर्य खण्ड है और शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। चक्रवर्ती इन छह खण्डों का अधिपति होता है। ऐसे छह खण्डों का विभाजन ऐरावत क्षेत्र एवं प्रत्येक विदेह क्षेत्र में भी होता है।

१६७. प्रश्न : भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत की अवस्थिति कहाँ पर है एवं उसका स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : भरतक्षेत्र के बहुमध्य भाग में नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से रमणीय, रजतमय विजयार्ध नामक उन्नत पर्वत विद्यमान है। यह पर्वत २५ योजन ऊँचा एवं पूर्व-पश्चिम लम्बा है। १० योजन ऊपर जाकर इस पर्वत के दोनों पार्श्व भागों में विद्याधरों की एक-एक श्रेणी है। दक्षिण श्रेणी में विद्याधरों की ५० और उत्तर श्रेणी में ६० नगरियाँ हैं।

१६८. प्रश्न : विजयार्ध पर्वत कितने और कहाँ-कहाँ पर हैं ?

उत्तर : पाँच मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और १६० विदेह क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र में एक-एक विजयार्ध पर्वत है। इस प्रकार विजयार्ध पर्वतों की कुल संख्या १७० है। इन पर्वतों से चक्रवर्ती

की अर्ध दिग्विजय का बोध होता है, इसलिए इनका विजयार्ध नाम सार्थक है। इन विजयार्धों पर नौ-नौ कूट हैं, जिनमें आठ कूटों पर व्यन्तर देवों का निवास है। नवम सिद्धकूट पर जिनमन्दिर है। भरत-ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्धों में नीचे जो गुफा-द्वार हैं, उनमें प्रवेश कर गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियाँ, लवणादि समुद्रों में प्रवेश करती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक विदेह स्थित विजयार्ध पर्वत की ऐसी ही रचना है।

१६६. प्रश्न : कालचक्र का परिवर्तन कहाँ और किस प्रकार होता है तथा कहाँ-कहाँ नहीं होता है ?

उत्तर : भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल के द्वारा कालचक्र का परिवर्तन होता रहता है। उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी के

१. सुषमा-सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा-दुःषमा, ४. दुःषमा-सुषमा, ५. दुःषमा और ६. दुःषमा-दुःषमा नाम के छह भेद हैं। सुषमा-सुषमा काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का, सुषमा काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमा-दुःषमा काल दो कोड़ाकोड़ी सागर का, दुःषमा-सुषमा काल ४२,००० वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का, दुःषमा काल २१,००० वर्ष एवं दुःषमा-दुःषमाकाल २१,००० वर्ष का होता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के भी (१)

दुःषमा-दुःषमा (२) दुःषमा (३) दुःषमा-सुषमा (४) सुषमा-दुःषमा (५) सुषमा (६) सुषमा-सुषमा नाम के छह भेद हैं। अवसर्पिणी काल में विद्या, बल, आयु तथा शरीर की अवगाहना आदि का आगे-आगे ह्रास होता रहता है। उत्सर्पिणी काल में विद्या, बल, आयु तथा शरीर की अवगाहना आदि की आगे-आगे वृद्धि होती रहती है।

विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थकाल, हैमवत-हैरण्यवत् क्षेत्र में सदा तीसरा काल, हरि-रम्यक क्षेत्र में सदा दूसरा काल और देवकुरु-उत्तरकुरु में सदा पहला काल प्रवर्तमान रहता है। वियार्ध की श्रेणियों में तथा म्लेच्छ खण्डों में अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के आदि-अन्त जैसा परिवर्तन होता रहता है। मानुषोत्तर पर्वत के आगे से लेकर स्वयंप्रभ पर्वत के पूर्व तक असंख्यात् द्वीप-समुद्रों में सदा तृतीय काल का प्रवर्तन होता है। अर्ध स्वयम्भूरमण द्वीप एवं स्वयम्भूरमण समुद्र में छह काल का परिवर्तन नहीं होता है। वहाँ पर पंचम काल सदृश प्रवर्तन होता है।

२००. प्रश्न : भोगभूमि किसे कहते हैं ? उनकी रचना कहाँ-कहाँ पर और कैसी है ?

उत्तर : जहाँ मनुष्यों का जीवन-निर्वाह दस प्रकार के कल्पवृक्षों से होता है, उन्हें भोगभूमि कहते हैं। यह स्थिर और अस्थिर के भेद

से दो प्रकार की है। भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कालचक्र का परिवर्तन होता है, अतः वहाँ की भोग-भूमियाँ अस्थिर कहलाती हैं, जहाँ काल-चक्र का परिवर्तन नहीं होता है, अतः वहाँ की भोगभूमियाँ स्थिर होती हैं। १. उत्तम, २. मध्यम और ३. जघन्य के भेद से भोगभूमि तीन प्रकार की होती हैं।

देवकुरु व उत्तरकुरु में (विदेह के अंश) उत्तम भोगभूमि है। उत्तम भोगभूमि में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई ३ कोस की होती है, ३ पल्य की उत्कृष्ट आयु होती है और ३ दिन के बाद बदरी फल बराबर आहार होता है। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि है। यहाँ मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई २ कोस की होती है, २ पल्य की उत्कृष्ट आयु होती है और २ दिन के बाद बहेड़ा फल बराबर आहार होता है। हैमवत, हैरण्यवत् क्षेत्र में एवं मध्य के असंख्यात् द्वीप-समुद्रों में जघन्य भोगभूमि है। यहाँ मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई १ कोस की होती है। १ पल्य की उत्कृष्ट आयु होती है और १ दिन के बाद आँवले के फल बराबर आहार होता है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन होता रहता है। सुषमा-सुषमा काल में उत्तम भोगभूमि, सुषमा काल में मध्यम भोगभूमि और सुषमा-दुःषमा काल में जघन्य भोगभूमि होती है।

भोगभूमि में युगल उत्पत्ति होती है। वहाँ के मनुष्य वज्रवृषभनाराच संहनन वाले, समचतुरस्र संस्थान से युक्त; कवलाहार करते हुए भी नीहार से रहित होते हैं। वहाँ रोग, कलह, ईर्ष्या एवं अकालमरण नहीं होता है। वे युगल विक्रिया द्वारा बहुत प्रकार के शरीर बनाकर चक्रवर्ती के भोगों से अनन्तगुणे भोगों को आयु-पर्यन्त भोगते हैं। पुरुष छींक से एवं स्त्री जम्भाई आने से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। वहाँ पर विकलत्रय एवं असंज्ञी जीवों का अभाव होता है।

२०१. प्रश्न : कर्मभूमि किसे कहते हैं ? उनकी रचना कहाँ पर है ?

उत्तर : जहाँ असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या से आजीविका होती है, उसे कर्मभूमि कहते हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर शेष विदेहक्षेत्र में शाश्वत कर्मभूमि रहती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र के परिवर्तन के अनुसार सुषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-दुषमा कालों में कर्मभूमि रहती है। विजयार्ध पर्वत एवं म्लेच्छ खण्डों में शाश्वत कर्मभूमि रहती है।

२०२. प्रश्न : भोगभूमि में उत्पत्ति के क्या कारण हैं ?

उत्तर : जो मिथ्यात्व भाव से युक्त होते हुए भी मन्दकषायी हैं, पंच अणुव्रत के धारी हैं, आठ मूलगुणों को धारण करने वाले हैं, भक्ति से जिनपूजा करते हैं, अत्यन्त निर्मल संयम के धारक और

परिग्रह से रहित यतियों को भक्ति से आहारदान, अभयदान, औषधदान एवं ज्ञानदान देने में तत्पर रहते हैं, वे भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

पूर्व में मनुष्य आयु बाँधकर पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले कितने ही सम्यग्दृष्टि पुरुष भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

दानो की अनुमोदना करने से तिर्यंच भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

२०३. प्रश्न : भोगभूमिज जीवों की गति क्या है ? अर्थात् मरण के बाद वे कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि मनुष्य एवं तिर्यंच भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य एवं तिर्यंच सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।

२०४. प्रश्न : भोगभूमिज तिर्यंचों में क्या विशेषता है ?

उत्तर : भोगभूमिज तिर्यंच युगल उत्पन्न होते हैं। वे उत्तम वर्ण वाले, मन्दकषायी और सरल परिणामी होते हैं और अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अंकुरादि के भोग भोगते हैं। वहाँ व्याघ्रादिक भूमिचर और काक आदि नभचर भी मांसाहार के

बिना कल्पवृक्षों के मधुर फलों का भोग करते हैं एवं हरिदणादिक दिव्य तृणों का भोजन करते हैं।

२०५. प्रश्न : भोगभूमि में कितने गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर : भोगभूमिज जीवों के अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं तथा पर्याप्त अवस्था में १ से ४ गुणस्थान तक होते हैं।

२०६. प्रश्न : कुभोगभूमि कहाँ है ? और वहाँ के मनुष्यों का आकार आदि कैसा है ?

उत्तर : लवणसमुद्र के भीतर चार दिशाओं में चारद्वीप-चार विदिशाओं में चार द्वीप और आठ अन्तर दिशाओं में आठ द्वीप, हिमवान् कुलाचल, भरत संबंधी विजयार्ध, शिखरी कुलाचल और ऐरावत सम्बन्धी विजयार्ध इन चारों पर्वतों के दोनों अन्तिम भागों के निकट एक-एक अर्थात् आठ द्वीप हैं। इस प्रकार लवण समुद्र के अभ्यन्तर तट के कुल द्वीपों की संख्या (४+४+८+८) = २४ है। इसके वाह्य तट पर भी २४ द्वीप हैं, अतः लवण समुद्र संबंधी ४८ द्वीप हुए। इसी प्रकार कालोदक समुद्र के दोनों तटों के ४८ द्वीप हैं। इन ९६ द्वीपों में कुभोगभूमि की रचना है। वहाँ के मनुष्यों की आकृतियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। कोई मनुष्य एक टांग वाले, कोई पूँछ वाले, कोई लम्बे कान वाले, किन्हीं

मनुष्यों के मुख हाथी, गोमुख, मेढ़ा के मुख सदृश होते हैं। यहाँ जन्मादिक की सर्व प्रवृत्ति जघन्य भोगभूमि सदृश है। एक पल्य प्रमाण आयु होती है। वे अत्यन्त मीठी मिट्टी एवं कल्पवृक्षों द्वारा प्रदत्त फलों का भोजन करते हैं।

२०७. प्रश्न : कुभोगभूमि में उत्पत्ति के क्या कारण हैं ?

उत्तर : जो जीव जिनलिंग धारण कर मायाचारी करते हैं, ज्योतिष एवं मन्त्रादि विद्याओं द्वारा आजीविका करते हैं, धन के इच्छुक हैं, तीन गारव एवं चार संज्ञाओं से युक्त हैं, गृहस्थों के विवाह आदि कराते हैं, सम्यग्दर्शन के विराधक हैं, अपने दोषों की आलोचना नहीं करते हैं, दूसरों को दोष लगाते हैं, जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि तप तपते हैं, मौन छोड़कर आहार करते हैं तथा जो दुर्भावना, अपवित्रता, सूतक आदि से एवं पुष्पवती स्त्री के स्पर्श से युक्त तथा "जाइसंकरादोहिं" जातिसंकर आदि दोषों से सहित होते हुए भी दान देते हैं और जो कुपात्रों को दान देते हैं, वे जीव मरकर कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

जो दिगम्बर साधुओं की निन्दा करते हैं, गुरु के साथ स्वाध्याय एवं वन्दनाकर्म नहीं करते हैं, गुरु मुनिसंघ छोड़कर एकाकी रहते हैं, वे कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

२०८. प्रश्न : विदेह क्षेत्र कितने हैं ? उनके और भेद कितने हैं ?

उत्तर : पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच विदेह क्षेत्र हैं। प्रत्येक विदेह क्षेत्र के सीता-सीतोदा नदी, वक्षार गिरि और विभंगा नदियों के कारण ३२ खण्ड हो जाते हैं। इसलिए पाँचों विदेह क्षेत्रों के कुल ३२ X ५ = १६० (प्रत्येक विदेह क्षेत्र के ३२) भेद होते हैं। प्रत्येक विदेह देश में एक एक विजयार्ध पर्वत एवं गंगा-सिन्धु सदृश दो-दो नदियाँ हैं, उससे प्रत्येक विदेह देश के भी छह-छह खण्ड हो जाते हैं।

२०९. प्रश्न : सुमेरु पर्वत कितने हैं और वे किस-किस द्वीप में हैं ?

उत्तर : सुमेरु पर्वत ५ हैं। १. सुदर्शन मेरु, २. विजय मेरु, ३. अचल मेरु, ४. मन्दर मेरु और ५. विद्युन्माली मेरु।

जम्बूद्वीप संबंधी विदेह क्षेत्र में सुदर्शन मेरु; धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में विजय मेरु, धातकी खण्ड द्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में अचल मेरु, पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में मन्दर मेरु एवं पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम विदेहक्षेत्र में विद्युन्माली मेरु है।

२१०. प्रश्न : सुमेरु पर्वत एवं अन्य चारों मेरु पर्वतों का अवस्थान कहाँ है एवं उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर : विदेह क्षेत्रों के बहुमध्य भाग में मेरु पर्वतों का अवस्थान है। सुदर्शन मेरु १००० योजन गहरा (नींव), ९९,००० योजन ऊँचा और भूमि पर १०,००० योजन विस्तार वाला है। चारों मेरु पर्वत १००० योजन नींव सहित ८४,००० योजन ऊँचे हैं, भूमि पर ९,४०० योजन विस्तार वाले हैं। पाँचों मेरुओं का विस्तार शिखर पर १००० योजन प्रमाण हैं।

सुमेरु पर्वत के मूल में भद्रशाल वन है, इससे ५०० योजन ऊपर जाकर नन्दन वन है, इससे ६२,००० योजन ऊपर जाकर सौमनस वन है और इससे ३६,००० योजन ऊपर जाकर पाण्डुक वन है। ये चारों वन सुमेरु पर्वत के चारों ओर हैं और अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित हैं। चारों वनों की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में एक-एक अकृत्रिम जिन चैत्यालय है। पाण्डुक वन की चार विदिशाओं में पाण्डुक, पाण्डुकम्बला, रक्ता और रक्ताकम्बला नाम की चार शिलाएँ हैं, जो क्रमशः स्वर्ण, चांदी, तपाए हुए स्वर्ण और रक्त वर्ण सदृश हैं।

भरत क्षेत्र पश्चिम विदेह क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र एवं पूर्व विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक क्रमशः इन्हीं

शिलाओं पर होता है। ये सब शिलाएँ अर्धचन्द्राकार हैं। इन शिलाओं पर तीर्थंकर , सौधर्मेंद्र और ईशानेन्द्र संबंधी तीन-तीन सिंहासन हैं। जिनेन्द्र सिंहासन एवं दोनों भद्रासनों का मुख पूर्व दिशा की ओर है। पाण्डुक वन के मध्य में मेरु की वैडूर्य रत्नों से रचित ४० योजन की चूलिका है सुमेरु पर्वत मूल में १००० योजन प्रमाण वज्रमय, मध्य में ६१,००० योजन प्रमाण उत्तम रत्नमय और ऊपर ३८,००० योजन प्रमाण स्वर्णमय है।

अन्य चारों मेरु पर्वतों के मूल भाग में भद्रशाल वन हैं, उन वनों से ५०० योजन ऊपर नन्दनवन, ५५,५०० योजन ऊपर सौमनसवन एवं २८,००० योजन ऊपर पाण्डुक वन हैं। इन मेरुओं के भी चारों वनों में चार-चार अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी ८० अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं।

२११. प्रश्न : गजदंत पर्वत कितने और कहाँ पर हैं ?

उत्तर : मेरु पर्वत की विदिशाओं में हाथी दाँत के आकार सदृश, अनादिनिधन, तिरछे रूप से आयत, क्रमशः चांदी, तपनीय स्वर्ण, कनक और वैडूर्यमणि के सदृश वर्ण वाले सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान नाम के महारमणीय चार महापर्वत हैं। चारों पर्वतों के ऊपर प्रथम सिद्धायतन कूट हैं, जहाँ पर अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। गजदन्त के अभ्यन्तर भाग में सीता नदी के पूर्व

तट पर और मन्दर पर्वत के उत्तर-पार्श्व भाग में जिनेन्द्र प्रासाद हैं।

२१२. प्रश्न : जम्बू एवं शाल्मली वृक्ष कहाँ पर हैं, उनका स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : नील कुलाचल के समीप, सीता नदी के पूर्व तट पर सुदर्शन मेरु की ईशान दिशा में उत्तर कुरुक्षेत्र में जम्बूवृक्ष है। अपने स्कन्ध से ऊपर वज्रमय अर्धयोजन चौड़ी और आठ योजन लम्बी उसकी चार शाखाएँ हैं। जो शाखा उत्तर कुरुगत नील कुलाचल की ओर गई है, उस पर जिनमन्दिर है।

सीतोदा नदी के पश्चिम तट पर, निषध कुलाचल के समीप, सुदर्शन मेरु की नैऋत्य दिशा में देव-कुरुक्षेत्र में शाल्मली वृक्ष है। शाल्मली वृक्ष की दक्षिण शाखा पर जिनमन्दिर है।

जम्बूवृक्ष एवं शाल्मली वृक्ष के परिवारवृक्षों की संख्या १, ४०, १२०, -१, ४०, १२० है।

२१३. प्रश्न : भोगभूमि एवं कर्मभूमि की संख्या कितनी है और वे कहाँ-कहाँ पर हैं ?

उत्तर : देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र में उत्तम भोगभूमि है, हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि है तथा हैमवत और हैरण्यवत

क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि है। एक मेरु संबंधी छह भोगभूमि हैं, अतः पाँच मेरु संबंधी ३० भोगभूमि हैं।

५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह से संबंधित १५ कर्मभूमि हैं।

२१४. प्रश्न : विदेहक्षेत्र- स्थित देशों की क्या विशेषता है ?

उत्तर : विदेहस्थित देशों में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता।

१. अतिवृष्टि, २. अनावृष्टि, ३. मूषक, ४. शलभ (टिड्डी), ५. शुक्र, ६. स्वचक्र और ७. परचक्र है लक्षण जिसका ऐसी सात प्रकार की ईतियाँ नहीं होती हैं तथा गाय, मनुष्य आदि जिनमें अधिक मरते हैं, ऐसे मारि आदि रोग वहाँ कभी नहीं होते। वे देश कुदेव, कुलिंग अर्थात् जिनलिंग से भिन्न लिंग और कुमत से रहित होते हैं। वे देश केवलज्ञानियों, तीर्थंकरादि शलाका पुरुषों और ऋद्धिसम्पन्न साधुओं से निरन्तर समन्वित रहते हैं।

प्रत्येक विदेह देश में यदि पृथक्-पृथक् एक-एक तीर्थंकर, चक्रवर्ती और अर्ध चक्रवती अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण हों तो उत्कृष्टतः १६० हो सकते हैं। जघन्यतः २० ही होते हैं।

२१५. प्रश्न : जम्बूद्वीप में पर्वत, नदी एवं सरोवर आदि की कुल संख्या कितनी है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में १ सुदर्शन मेरु, ६ कुलाचल, ४ यमकगिरि, २०० कांचन पर्वत, ८ दिग्गज पर्वत, १६ वक्षार पर्वत, ४ गजदन्त, ३४ विजयार्ध पर्वत, ३४ वृषभाचल और ४ नाभिगिरि। इस प्रकार कुल ३११ पर्वत हैं। १७, ९२,०९० कुल नदियाँ हैं एवं २६ सरोवर हैं।

२१६. प्रश्न : वक्षार पर्वत कितने और कहाँ-कहाँ पर हैं।

उत्तर : जम्बूद्वीप में एक मेरु संबंधी १६ वक्षार पर्वत हैं। मेरु पर्वत के पूर्व-पश्चिम भागों में पूर्व-विदेह और अपर-विदेह है। पूर्व विदेह के मध्य में सीता नदी और अपर विदेह के मध्य में सीतोदा नदी बहती है। इन नदियों के दक्षिण-उत्तर तटों के द्वारा चार क्षेत्र बन गये हैं। इन्हीं एक-एक क्षेत्र में आठ-आठ विदेह देश हैं। एक-एक क्षेत्र में चार-चार वक्षार पर्वत एवं तीन-तीन विभंगा नदियों के द्वारा आठ-आठ विभाग बने हैं।

२१७. प्रश्न : मानुषोत्तर पर्वत कहाँ पर है एवं उसका स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : पुष्कर द्वीप के मध्य में स्वर्ण सदृश वर्ण वाला मानुषोत्तर पर्वत है। उस मानुषोत्तर पर्वत पर नैऋत्य और वायव्य इन दो दिशाओं को छोड़कर अवशेष छह दिशाओं में पंक्तिस्वरूप तीन-तीन कूट है तथा उन कूटों के अभ्यन्तर अर्थात् मनुष्य लोक की ओर

चार दिशाओं में चार जिनमन्दिर हैं।

२१८. प्रश्न : कर्मभूमि का प्रवेश कब होता है एवं वहाँ स्थित कुलकरों का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : तृतीय काल में पल्य का आठवाँ भाग अवशिष्ट रहने पर प्रतिश्रुति से नाभिराय पर्यन्त १४ कुलकर हुए। नाभिराय कुलकर के पुत्र वृषभदेव प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। विदेह में सत्पात्रदान के फल से जिन्होंने मनुष्यायु का बंध करने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है, वे यहाँ क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं। उनमें से कोई तो जातिस्मरण से और कोई अवधिज्ञान से संयुक्त होते हैं।

२१९. प्रश्न : शलाका पुरुष किन्हें कहते हैं और वे कौन-कौन हैं ?

उत्तर : गणनीय मुख्य पुरुषों को शलाका पुरुष कहते हैं, वे ६३ होते हैं, जैसे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र। एक-एक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के युग में ये ६३ ही होते हैं। इन शलाका पुरुषों की उत्पत्ति भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में होती है।

हुण्डावसर्पिणी कालदोष से शलाका पुरुषों की संख्या ५८, ५९ एवं ६० मानी गई है। भगवान आदिनाथ तीसरे काल में ही मोक्ष चले गये थे और शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ के

जीव एक ही समय में तीर्थंकर भी थे और चक्रवर्ती भी थे तथा प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ का जीव ही अंतिम तीर्थंकर महावीर हुआ। इस प्रकार शलाका पुरुषों की संख्या ५८ होती है। ५९ एवं ६० संख्या में इसी प्रकार लगा लेना।

२२०. प्रश्न : किन तीर्थंकरों के काल में कितने समय तक धर्म-विच्छेद हुआ है ?

उत्तर : पुष्पदन्त से लेकर शान्तिनाथ पर्यन्त के ७ तीर्थंकरों के काल में जैनधर्म का विच्छेद हुआ है। पुष्पदन्त और शीतलनाथ के अन्तराल में १/४ पल्य तक, शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ के अन्तराल में १/२ पल्य तक, श्रेयांसनाथ और वासुपूज्य के अन्तराल में ३/४ पल्य तक, वासुपूज्य और विमलनाथ के अन्तराल में १ पल्य तक, विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तराल में ३/४ पल्य तक, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तराल में १/२ पल्य तक एवं धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में १/४ पल्य तक जैनधर्म का विच्छेद हुआ है अर्थात् चतुर्थ काल में ४ पल्य तक जैनधर्म के अनुयायियों का सर्वथा अभाव रहा है।

२२१. प्रश्न : तीर्थंकर का तीर्थकाल कितना है ?

उत्तर : पूर्व तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से लेकर अग्रिम तीर्थंकर की प्रथम दिव्यध्वनि खिरने तक तीर्थंकर का तीर्थकाल कहलाता है।

१२२. प्रश्न : चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण एवं रुद्रों की गति क्या है ?

उत्तर : मघवान् और सनतकुमार ये दो चक्रवर्ती स्वर्ग गए हैं। सुभौम और ब्रह्मदत्त ये दो चक्रवर्ती ७वें नरक गए हैं और शेष आठ चक्रवर्ती मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं।

नारायण, प्रतिनारायण नारद एवं रुद्र नरकगति को ही प्राप्त होते हैं, परन्तु कालान्तर में मोक्षगामी होते हैं।

आदि के आठ बलदेव मोक्ष गए हैं और अन्तिम बलदेव ब्रह्म स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं, सो भी कृष्ण नारायण का जीव जब तीर्थंकर होगा तब वे भी मोक्ष प्राप्त करेंगे।

२२३. प्रश्न : तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण कैसा है एवं वे कौन से वंश में उत्पन्न हुए हैं ?

उत्तर : पद्मप्रभ और वासुपूज्य ये दो तीर्थंकर रक्तवर्ण, चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त श्वेतवर्ण, सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ नीलवर्ण, मुनिसुव्रत और नेमिनाथ कृष्णवर्ण तथा शेष सोलह तीर्थंकर स्वर्ण सदृश वर्ण वाले थे। वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पाँच तीर्थंकर बालब्रह्मचारी हुए हैं। अवशेष १९ तीर्थंकरों का विवाह हुआ था। महावीर नाथ वंश में, पार्श्वनाथ उग्र वंश में, मुनिसुव्रत और नेमिनाथ हरि वंश में, धर्म, कुन्थु और

अरनाथ कुरु वंश में तथा अवशेष १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए थे।

२२४. प्रश्न : चौबीस तीर्थंकरों के कौन-कौन कारण से वैराग्य उत्पन्न हुआ ?

उत्तर : शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, वासुपूज्य, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं वर्धमान स्वामी पूर्व जन्मों के स्मरण से वैराग्य को प्राप्त हुये।

अजितनाथ, पुष्पदन्त, अनन्तनाथ और धर्मनाथ स्वामी उल्कापात देखकर विरक्त हुए। अरनाथ, संभवनाथ और विमलनाथ मेघविनाश से, श्रेयांसनाथ और सुपार्श्वनाथ बसन्तकालीन वनलक्ष्मी का नाश देखकर, चन्द्रप्रभ और मल्लिनाथ अध्रुव बिजली आदि से, शीतलनाथ हिमनाश से और ऋषभदेव नीलाञ्जना के मरण से वैराग्य को प्राप्त हुये।

२२५. प्रश्न : समवसरण में कौन-कौन नहीं जाते हैं ?

उत्तर : समवसरण में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं जाते हैं तथा अनध्यवसाय से युक्त, सन्देह से युक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं वाले जीव भी नहीं जाते हैं।

२२६. प्रश्न : समवसरण की क्या विशेषता है ?

उत्तर : समवसरण के कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है तथापि वे सब जीव जिनेन्द्रदेव के माहात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान के माहात्म्य से बालक-प्रभृति जीव समवसरण में प्रवेश करने अथवा निकलने में अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर संख्यात् योजन चले जाते हैं।

जिन भगवान के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा तथा पिपासा और क्षुधा की पीड़ाएँ वहाँ नहीं होती हैं।

२२७. प्रश्न : अभिन्नदशपूर्वी किसे कहते हैं ?

उत्तर : दस पूर्व पढ़ने में रोहिणी आदि महाविद्याओं के पाँच सौ और अंगुष्टप्रसेनादिक क्षुद्र विद्याओं के सात सौ देवता आकर आज्ञा मांगते हैं। इस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते हैं वे अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं।

२२८. प्रश्न : महापुरुष कितने होते हैं ?

उत्तर : तीर्थंकर (२४), उनके गुरुजन (माता-पिता २४+२४), चक्रवर्ती (१२), बलदेव (९), नारायण (९), प्रतिनारायण (९), रुद्र

(११), कामदेव (२४) और कुलकर (१४) ये सब (१६०) भव्य पुरुष नियम से सिद्ध होते हैं।

२२९. प्रश्न : दुःषमा काल का प्रारम्भ कब हुआ ? अंतिम केवली कौन हुए ?

उत्तर : वीर जिनेन्द्र का निर्वाण होने के पश्चात् तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्ष व्यतीत हो जाने पर दुःषमा काल का प्रारम्भ होता है।

महावीर स्वामी के सिद्ध होने के बाद गौतम स्वामी, सुधर्म स्वामी एवं जम्बू स्वामी तीन अनुबद्ध केवली हुए। अंतिम श्रीधर केवली हुये, जो कुण्डलगिरि से सिद्धि को प्राप्त हुए।

२३०. प्रश्न : दुःषमा काल में कल्की, उपकल्की कब होते हैं एवं उनके कार्य क्या हैं ?

उत्तर : दुःषमा नामक पञ्चम काल में एक-एक हजार वर्षों के पश्चात् एक-एक कल्की तथा पाँच-पाँच सौ वर्षों के पश्चात् एक-एक उपकल्की होता है।

कल्की उन्मार्गाभिमुख होते हैं। कल्की अपने मन्त्रीगणों से पूछते हैं कि कौन हमारे वश में नहीं है ? मंत्रीगण बोले-निर्ग्रन्थ साधु नहीं हैं। वे शास्त्रानुसार भिक्षावृत्ति से भोजन लेते हैं। मन्त्री

के ऐसे वचन सुनकर कल्की ने मन्त्रियों सहित नियम बनाया कि उन निर्ग्रन्थों के पाणिपुट में रखा गया प्रथम ग्रास टैक्स रूप में ग्रहण किया जाय। प्रथम ग्रास कर रूप में मांगे जाने पर मुनि आहार छोड़कर वन में चले जाते हैं। इस अपराध को सहन करने में असमर्थ असुरपति वज्रायुध द्वारा कल्की को मार डालते हैं। कल्की का पुत्र असुरपति की शरण में आकर, असुरेन्द्र के द्वारा किये हुए जैनधर्म के माहात्म्य का प्रत्यक्ष फल देखकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को धारण करता है।

❑❑❑

पञ्चमाधिकार

२३१. प्रश्न : करण किसे कहते हैं और उनकी संख्या कितनी है ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्मों की अवस्था विशेष को कारण कहते हैं। उनकी संख्या ८ है- (१) अप्रशस्त उपशामना (२) निधत्ति (३) निकाचना (४) बंधन (५) उदीरणा (६) अपकर्षण (७) उत्कर्षण और (८) संक्रमणकरण[1]।

२३२. प्रश्न : किस कर्म के कौन-कौन करण होते हैं ?

उत्तर : चारों आयुओं में संक्रमण करण के बिना नौ करण होते हैं। शेष सब कर्म-प्रकृतियों में दस करण होते हैं।

२३२. प्रश्न : आयु कर्म में कौन करण किस गुण-स्थान तक होते हैं ?

उत्तर : आयु कर्म में नरकायु के बन्धन-करण और उत्कर्षण-करण मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। संक्रमण करण को छोड़कर शेष

---

१. कर्मकाण्ड गाथा, ४३६ से ४५० तक कहे हुये दस करणों में उदय और सत्त्व को छोड़कर तथा उपशम के स्थान पर अप्रशस्त उपशामना करण नाम देने से आठ करण होते हैं। इनके लक्षण करणानुयोग दीपक भाग– २ के पृष्ठ ११२–११३ पर देखें।

पाँच करण अर्थात् अपकर्षण, उदीरणा, उपशम, निकाचना, निधतत्ति, उदय और सत्त्व चतुर्थ गुणस्थान तक होते हैं। तिर्यञ्च आयु के बन्धन और उत्कर्षणकरण द्वितीय गुणस्थान तक ही होते हैं। संक्रमणकरण को छोड़कर शेष पाँच करण उदय और सत्त्व पञ्चम गुण-स्थान तक होते हैं। मनुष्यायु के बन्धनकरण और उत्कर्षणकरण चतुर्थ गुण-स्थान तक ही होते हैं। उदीरणाकरण प्रमत्तसंयत नामक ६ठे गुण-स्थान तक होता है। संक्रमणकरण के बिना अप्रशस्त उपशामना, निधत्ति और निकाचना अपूर्वकरण गुणस्थान के अन्त तक होते हैं। उदय और सत्त्व चौदहवें गुण-स्थान तक होते हैं। देवायु के बन्धन-करण और उत्कर्षण-करण सप्तम गुण-स्थान तक होते हैं, उदय और उदीरणा ये दो करण चतुर्थ गुण-स्थान तक होते हैं। अपकर्षण-करण और सत्त्व-करण ग्यारहवें गुणस्थान तक होते हैं। इसमें संक्रमणकरण नहीं होता है तथा अप्रशस्त उपशामना, निधत्ति और निकाचना अष्टम गुणस्थान के अन्त तक होती है।

२३४. प्रश्न : वेदनीय कर्म में करणों की व्यवस्था का क्या क्रम है ?

उत्तर : वेदनीय के दो भेद हैं। (१) साता वेदनीय, (२) असाता वेदनीय। इनमें साता वेदनीय के बन्धन और अपकर्षण करण तेरहवें गुणस्थान तक, उत्कर्षणकरण दसवें गुणस्थान तक, उदीरणा

और संक्रमणकरण छठे गुणस्थान तक, उपशामना, निधत्ति और निकाचनाकरण आठवें गुणस्थान के अन्त तक तथा उदय और सत्त्व चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं।

असाता वेदनीय के बन्धनकरण, उत्कर्षणकरण और उदीरणाकरण छठे गुणस्थान तक, संक्रमणकरण दसवें गुणस्थान तक, अपकर्षणकरण तेरहवें गुणस्थान तक, उपशामना, निधत्ति और निकाचनाकरण आठवें गुणस्थान तक तथा उदय और सत्त्व चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं।

२३५. प्रश्न : मोहनीय कर्म में करणों की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर : मोहनीय कर्म के अपवर्तनाकरण और उदीरणाकरण सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में समयाधिक एक आवलि प्रमाण काल शेष रहने तक एवं उदय उसके अन्तिम समय तक होता है। बन्धन, उत्कर्षण और संक्रमणकरण अनिवृत्ति-करण के विवक्षित स्थान तक होते हैं। अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्ति और निकाचनाकरण अपूर्वकरण के अन्तिम समय तक होते हैं तथा सत्त्व उपशान्त मोह के अन्तिम समय तक होता है।

२३६. प्रश्न : ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के करणों की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर : ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के

अपवर्तनाकरण तथा उदीरणाकरण बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में समयाधिक आवलि मात्र काल शेष रहने तक होते हैं एवं उदय और सत्त्व इसी गुणस्थान के अन्तिम समय तक होते हैं। बन्धन, उत्कर्षण और संक्रमणकरण दशम गुणस्थान तक होते हैं। उपशामना, निधत्ति और निकाचनाकरण अष्टम गुणस्थान के अन्तिम समय तक होते हैं।

२३७. प्रश्न : नाम और गोत्र कर्म में करणों का क्या क्रम है ?

उत्तर : नाम और गोत्र कर्म के बन्धन, उत्कर्षण और संक्रमण करण दशम गुणस्थान तक, उदीरणा और अपकर्षण करण सयोग केवली गुणस्थान के अंतिम समय तक, उपशामना, निधत्ति और निकाचना करण अष्टम गुणथान के अन्तिम समय तक तथा उदय और सत्त्व अयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक होते हैं।

२३८. प्रश्न : उपशामना के कितने भेद हैं ?

उत्तर : उपशामना के दो भेद हैं।

(१) सव्याघात उपशामना और (२) अव्याघात उपशामना।

नपुंसक वेद आदि का उपशम करते समय यदि बीच में ही मरण हो जाता है तो उसे सव्याघात उपशामना कहते हैं। इसका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

बीच में होने वाले मरण से जो रहित है उसे अव्याघात उपशामना कहते हैं। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

अप्रशस्त उपशामना और प्रशस्त उपशामना के भेद से भी उपशामना के दो भेद हैं।

२३९. प्रश्न : उपशान्त मोह गुणस्थान में होने वाले प्रतिपात के कितने कारण हैं ?

उत्तर : दो कारण हैं - (१) आयुक्षय और (२) उपशम काल की पूर्णता।

इस गुणस्थान में आयुक्षय से होने वाले प्रतिपात में अर्थात् मरने के बाद यह मुनि देवपर्याय में नीचे चतुर्थ गुणस्थान में आ जाता है और उपशम काल के क्षय से होने वाले प्रतिपात के समय जीव क्रम से नीचे उतरता है।

२४०. प्रश्न : अश्वकर्ण करण क्या है ?

उत्तर : अश्वकर्ण करण के तीन नाम हैं - (१) अश्वकरण (२) आंदोल करण और (३) उद्वर्तन-अपवर्तन करण।

जिस प्रकार घोड़े के कान मूल से लेकर दोनों ओर घटते जाते हैं उसी प्रकार संज्वलन क्रोध से लेकर अनुभाग स्पर्धकों की

रचना क्रम से अनन्तगुणी हीन होती जाती है। इसीलिये इसे अश्वकर्ण-करण कहते हैं।

२४१. प्रश्न : अन्तरकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरितन स्थितियों के निषेकों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणाम-विशेषों के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

२४२. प्रश्न : आगाल-प्रत्यागाल किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्तर-करण हो जाने के पश्चात् पुरातन मिथ्यात्व कर्म तो प्रथम या द्वितीय स्थिति में विभाजित हो जाता है, परन्तु नवीन कर्म द्वितीय स्थिति में पड़ता है। उसमें से कुछ द्रव्य अपकर्षण द्वारा प्रथम स्थिति के निषेकों को प्राप्त होता है, उसे आगाल कहते हैं।

फिर इस प्रथम स्थिति को प्राप्त हुये द्रव्यों में से कुछ द्रव्याकर्षण द्वारा पुनः द्वितीय स्थिति के निषेकों को प्राप्त होता है, उसे प्रत्यागाल कहते हैं।

२४३. प्रश्न : प्रथम स्थिति का क्या लक्षण है ?

उत्तर : विवक्षित प्रमाण को लिए हुए नीचे के निषेकों को प्रथम स्थिति कहते हैं।

२४४. द्वितीय स्थिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऊपर के समस्त निषेकों को द्वितीय स्थिति कहते हैं।

२४५. प्रश्न : उदयावली और प्रत्यावली किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्तमान समय से लेकर आवली मात्र काल को और उस काल में स्थित निषेकों की आवली को उदयावली कहते हैं।

उदयावली के आगे की आवली को द्वितीयावली अथवा प्रत्यावली कहते हैं।

२४६. प्रश्न : अचलावली अथवा आबधावली किसे कहते हैं ?

उत्तर : बन्ध के समय से लेकर एक आवली तक कर्मों की उदीरणा आदि नहीं होती है, अतः उस आवली को अचलावली या आबाधावली कहते हैं।

२४७. प्रश्न : अतिस्थापनावली किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन आवली मात्र निषेकों में द्रव्य का निक्षेपण नहीं किया जाता है, उन्हें अतिस्थापनावली कहते हैं।

२४८. प्रश्न : द्रव्य-निक्षेपण का क्या अर्थ है ?

उत्तर : अन्य निषेकों के परमाणुओं को अन्य निषेकों में निक्षिप्त करने को द्रव्यनिक्षेपण कहते हैं।

२४९. प्रश्न : उच्छिष्टावली किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों की स्थिति का सत्त्व घटते-घटते जो आवली मात्र प्रकृति शेष रह जाती है, उसे उच्छिष्टावली कहते हैं।

२५०. प्रश्न : प्रकृति बन्धापसरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : परिणामों की विशुद्धता से प्रकृतिबन्ध का क्रम से घटना प्रकृति बन्धापसरण कहलाता है।

२५१. प्रश्न : स्थिति बन्धापसरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : परिणामों की विशुद्धता से स्थितिबन्ध का क्रम से घटना स्थिति बन्धापसरण कहलाता है।

२५२. प्रश्न : स्थिति काण्डकघात क्या है ?

उत्तर : उपरितन निषेकों का क्रम से अधस्तन निषेकों में क्षेपण करना स्थितिकाण्डकघात है।[1]

२५३. प्रश्न : अनुभागकाण्डक घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : अधिक अनुभाग वाले उपरितन स्पर्धकों का अभाव कर उसके परमाणुओं को अल्प अनुभाग वाले अधस्तन स्पर्धकों में क्रम

---

१. स्थितिकाण्डकघात द्वारा विवक्षित अग्रस्थिति समूह के निषेक पूर्णतः खाली होकर नीचे आ जाते हैं।

से मिलाकर अनुभाग का घटाना अनुभाग काण्डक- घात है।

२५४. प्रश्न : अनुभाग-काण्डकोत्कीरण काल क्या है ?

उत्तर : अनुभाग काण्डक का घात जिस अन्तर्मुहूर्त में होता है उसे अनुभाग-काण्डकोत्कीरण काल कहते हैं।

२५५. प्रश्न : गुणश्रेणी क्या है ?

उत्तर : जहाँ गुणित क्रम से निषेकों में द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणी कहते हैं।

२५६. प्रश्न : गुणहानि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ गुणाकार रूप हीन-हीन द्रव्य दिया जावे उसे गुणहानि कहते हैं।

२५७. प्रश्न : फालि किसे कहते हैं ?

उत्तर : बड़े समुदाय को छोटे-छोटे समूहों में विभाजित करने को फालि कहते हैं। फालि का अर्थ फाँक है जैसे- बड़े कुमड़ा को फाँकों के रूप में विभाजित किया जाता है, उसी प्रकार कर्मों के समूह को विभाजित करना। जैसे उपशम काल में प्रथम समय में जितने द्रव्य का उपशम किया जाता है, वह प्रथम फालि है और दूसरे समय में जितने द्रव्य का उपशम किया जाता है वह द्वितीय फालि है।

२५८. प्रश्न : गोपुच्छा किसे कहते हैं ?

उत्तर : चय के अनुसार क्रम से घटते हुये निषेकों की रचना विशेष को गोपुच्छा कहते हैं। गोपुच्छा जैसा आकार बनने से यह संज्ञा रूढ़ हुई है।

❑❑❑